अथ अष्टमोऽध्यायः

प्रथमः पादः

सर्वस्य द्वे ॥८।१।१॥

सर्वस्य ६।१॥ द्वे १।२॥ *अर्थः*—अधिकारोऽयम् । इत उत्तरं यद्वक्ष्यामः पदस्येत्यतः प्राक्, तत्र सर्वस्य द्वे भवत इत्येवं तद्वेदितव्यम् ॥ वक्ष्यति *नित्यवीप्सयोः* (८।१।४) तत्र सर्वस्य स्थाने द्वे भवतः ॥ *उदा०*—पचति पचति । ग्रामो ग्रामो रमणीयः ॥

भाषार्थः—यह अधिकार सूत्र है, *पदस्य* (८।१।१६) से पहले-पहले जायेगा ॥ यहाँ से आगे पदस्य से पहले-पहले जो भी कहेंगे वहाँ [*सर्वस्य*] सबके स्थान में [*द्वे*] द्वित्व होता है, ऐसा अर्थ होता जायेगा ॥ यथा *नित्यवीप्सयोः* (८।१।४) आगे कहेंगे सो वहाँ अर्थ होगा "नित्यता तथा वीप्सा अर्थ में (सर्वस्य) सबको (द्वे) द्वित्व हो" ॥

तस्य परमाम्रेडितम् ॥८।१।२॥

तस्य ६।१॥ परम् १।१॥ आम्रेडितम् १।१॥ *अर्थः*—तस्य द्विरुक्तस्य यत्परं शब्दरूपं तदाम्रेडितसंज्ञं भवति ॥ *उदा०*—चौर चौर ३, वृषल-वृषल ३, दस्यो दस्यो ३ घातयिष्यामि त्वा, बन्धयिष्यामि त्वा ॥

भाषार्थः—[*तस्य*] उस द्वित्व किये हुये के [*परम्*] पर वाले (अर्थात् दूसरा) शब्द की [*आम्रेडितम्*] आम्रेडित संज्ञा होती है ॥ 'चौर' आदि शब्दों को *वाक्यादेराम०* (८।१।८) से द्वित्व होकर 'चौर चौर' बना । अब पर वाले चौर की आम्रेडित संज्ञा हो जाने से *आम्रेडितं भर्त्सने* (८।२।९५) से आम्रेडितसंज्ञक चौर की टि को प्लुत हो गया, इसी प्रकार सर्वत्र जानें । चौर के 'सु' का *एङ्ह्रस्वात्०* (६।१।६७) से लोप होकर द्वित्व हुआ है, एवं दस्यो दस्यो ३ में *ह्रस्वस्य गुणः* (७।३।१०८) से गुण हुआ है ॥

यहाँ से '*आम्रेडितम्*' की अनुवृत्ति ८।१।३ तक जायेगी ॥

अनुदात्तं च ॥८।१।३॥

अनुदात्तम् १।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—आम्रेडितम् ॥ *अर्थः*—यदाम्रेडितसंज्ञं तदनुदात्तं च भवति ॥ *उदा०*—भुङ्क्ते भुङ्क्ते । पशून् पशून् ॥

भाषार्थः—जिसकी आम्रेडित संज्ञा होती है, वह [*अनुदात्तम्*] अनुदात्त [*च*] भी होता है ॥ *नित्यवीप्सयोः* से भुङ्क्ते आदि में द्वित्व होता है। भुङ्क्ते की सिद्धि परि० १।३।६४ के प्रयुङ्क्ते के समान है। *भुजोऽनवने* (१।३।६६) से यहाँ आत्मनेपद हुआ है। भुज उदात्तेत् है, प्रत्यय स्वर से उदात्त हुआ। *सतिशिष्टोऽपि विकरणस्वरो लसार्वधातुकस्वरं न बाधते* (वा० ६।१।१५२) से श्नम् को अनुदात्त प्राप्त हुआ, परन्तु श्नम् के अदुपदेश होने से *तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेशा०* (६।१।१८०) से 'ते' अनुदात्त हो गया। सो श्नम् प्रत्यय स्वर से उदात्त हुआ। पश्चात् श्नम् के उदात्त अकार के लोप होने पर *अनुदात्तस्य च०* (६।१।१५५) से अनुदात्त ते उदात्त हो गया। द्वित्व होने के पश्चात् पर भाग में भी यही स्वर प्राप्त होने पर उसकी आम्रेडित संज्ञा होने से सब स्वर हटकर सारा पद अनुदात्त हुआ पश्चात् भु के उ को स्वरित (८।४।६५) एवं अन्य अनुदात्तों को एकश्रुति हो गई। इसी प्रकार पशु शब्द *अर्जिदृशि०* (उणा० १।२७) से कु प्रत्ययान्त होने से प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है। पर वाला भाग आम्रेडित संज्ञा होने से सारा अनुदात्त हो गया ॥

नित्यवीप्सयोः ॥८।१।४॥

नित्यवीप्सयोः ७।२॥ *स०*—नित्यञ्च वीप्सा च नित्यवीप्से तयोः··· इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—सर्वस्य द्वे ॥ *अर्थः*—नित्ये चार्थे वीप्सायां च यः शब्दो वर्त्तते तस्य सर्वस्य द्वे भवतः ॥ *उदा०*—नित्ये–पचति पचति। जल्पति जल्पति। भुक्त्वा २ व्रजति। भोजं २ व्रजति। लुनीहि २ इत्येवमयं लुनाति। वीप्सायाम्–ग्रामो २ रमणीयः। जनपदो २ रमणीयः। पुरुषः पुरुषो निधनमुपैति ॥

भाषार्थः—[*नित्यवीप्सयोः*] नित्यता एवं वीप्सा अर्थ में जो शब्द उस सम्पूर्ण शब्द को द्वित्व होता है ॥

नित्यता आभीक्ष्ण्य = पौनःपुन्य को कहते हैं, वह नित्यता तिङ् तथा कृत् जो अव्यय संज्ञक उनमें ही होती है, सो उसी प्रकार उदाहरण

दर्शा दिये हैं। वीप्सा भिन्न २ पदार्थों की क्रिया तथा गुण की व्याप्ति को एक साथ कहने की इच्छा को कहते हैं। यथा जनपद २ रमणीय है। यहाँ भिन्न २ जनपदों के रमणीयता गुण को एक साथ कह दिया। इस प्रकार वीप्सा सुपों का ही धर्म है॥ *आभीक्ष्ण्ये णमुल् च* (३।४।२२) से उदाहरणों में क्त्वा णमुल् तथा *क्रियासमभिहारे०* (३।४।२) से लुनीहि में लोट् को 'हि' हुआ है। क्त्वा, णमुल् *क्त्वातोसुन्०* (१।१।३९) एवं *कृन्मेजन्तः* (१।१।३८) से अव्ययसंज्ञक तथा कृत्संज्ञक (३।१।९३) भी हैं, सो उनको नित्यता अर्थ में द्वित्व हुआ है॥

परेर्वर्जने ॥८।१।५॥

परेः ६।१॥ वर्जने ७।१॥ अनु०—सर्वस्य द्वे ॥ *अर्थः*—परीत्येतस्य वर्जनेऽर्थे वर्तमानस्य द्वे भवतः॥ *उदा०*—परि २ त्रिगर्त्तेभ्यो वृष्टो देवः। परि २ सौवीरेभ्यः। परि २ सर्वसेनेभ्यः॥

भाषार्थः—[*वर्जने*] वर्जन = छोड़ने अर्थ में वर्त्तमान [*परेः*] परि शब्द को द्वित्व होता है॥ *अपपरी वर्जने* (१।४।८७) से 'परि' शब्द की यहाँ कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से *पञ्चम्यपाङ्०* (२।३।१०) से त्रिगर्त्तेभ्यः आदि में पञ्चमी हुई है। *विभाषाऽप०* (२।१।११) से विकल्प से समास कहा है, सो असमास पक्ष में ही इस सूत्र से द्विर्वचन होता है, समास पक्ष में द्वित्व नहीं होता ऐसा समझना चाहिये, क्योंकि समास पक्ष में परि स्वतन्त्र पद नहीं रहता। यहाँ वीप्सा अर्थ में द्विर्वचन प्राप्त था, नियमार्थ सूत्र है॥

प्रसमुपोदः पादपूरणे ॥८।१।६॥

प्रसमुपोदः ६।१॥ पादपूरणे ७।१॥ *स०*—प्रश्च सम् च उपश्च उत् च समुपोत् तस्य ''समाहारद्वन्द्वः। पादस्य पूरणं पादपूरणं तस्मिन् '' षष्ठीतत्पुरुषः॥ अनु०—सर्वस्य द्वे॥ *अर्थः*—प्र, सम्, उप, उत् इत्येतेषां द्वे भवतो द्विर्वचनेन चेत्पादः पूर्यते॥ *उदा०*—प्रप्रायमग्निर्भरतस्य शृण्वे (ऋ० ७।८।४)। संसमिद्युवसे (ऋ० १०।१९१।१)। उपोप मे परामृश (ऋ० १।१२६।७)। किं नोदुदु हर्षसे दातवा उ (ऋ० ४।२१।९)॥

भाषार्थः—[*प्रसमुपोदः*] प्र, सम्, उप, तथा उत् उपसर्गों को [*पादपूरणे*] पाद की पूर्त्ति करनी हो (अक्षरादि कम हों तो, पूर्त्ति करने

में) तो द्वित्व हो जाता है ॥ इस प्रकार का प्रयोग भाषा विषय में नहीं होता, अतः सामर्थ्य से यह सूत्र छन्द में ही प्रवृत्त होगा ॥

उपर्यध्यधसः सामीप्ये ॥८।१।७॥

उपर्यध्यधसः ६।१॥ सामीप्ये ७।१॥ *स०*—उपर्य० इत्यत्र समाहारद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—सर्वस्य द्वे ॥ *अर्थः*—उपरि, अधि, अधस् इत्येतेषां द्वे भवतः सामीप्ये विवक्षिते ॥ *उदा०*—उपर्युपरि दुःखम्। उपर्युपरि ग्रामम्। अध्यधि ग्रामम्। अधोऽधो नगरम् ॥

भाषार्थः—[*उपर्यध्यधसः*] उपरि, अधि, अधस् इनको [*सामीप्ये*] समीपता अर्थ कहना हो तो द्वित्व होता है ॥ उपर्युपरि आदि में यणादेश हुआ है। उपर्युपरि दुःखम् अर्थात् अभी २ दुःख का क्षण दूर हुआ है ॥ उपरि आदि अव्यय शब्द हैं ॥

वाक्यादेरामन्त्रितस्यासूयासम्मतिकोपकुत्सनभर्त्सनेषु ॥८।१।८॥

वाक्यादेः ६।१॥ आमन्त्रितस्य ६।१॥ असूया ... भर्त्सनेषु ७।३॥ *स०*—वाक्यस्य आदिः वाक्यादिस्तस्य ... षष्ठीतत्पुरुषः। असूया च सम्मतिश्च कोपश्च कुत्सनञ्च भर्त्सनञ्च असूया ... नानि, तेषु ... इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—सर्वस्य द्वे ॥ *अर्थः*—वाक्यादेरामन्त्रितस्य द्वे भवतः, असूया, सम्मति, कोप, कुत्सन, भर्त्सन इत्येतेषु गम्यमानेषु यदि तद्वाक्यं भवति ॥ *उदा०*—असूया—माणवकं ३ माणवक अभिरूपकं ३ अभिरूपक रिक्तं ते आभिरूप्यम्। सम्मतौ—माणवकं ३ माणवक अभिरूपकं ३ अभिरूपक शोभनः खल्वसि। कोपे—माणवकं ३ माणवक अविनीतकं ३ अविनीतक इदानीं ज्ञास्यसि जाल्म। कुत्सने—शक्तिके ३ शक्तिके यष्टिके ३ यष्टिके रिक्ता ते शक्तिः। भर्त्सने—चौर चौर ३ वृषल वृषल ३ घातयिष्यामि त्वा बन्धयिष्यामि त्वा ॥

भाषार्थः—[*वाक्यादेः*] वाक्य के आदि के [*आमन्त्रितस्य*] आमन्त्रित को द्वित्व होता है, यदि वाक्य से [*असूया ... र्त्सनेषु*] असूया, सम्मति, कोप, कुत्सन, भर्त्सन गम्यमान हो रहा हो तो ॥ दूसरे के गुणों को भी न सहन करने को असूया, सत्कार को सम्मति, क्रोध को कोप, निन्दा को कुत्सन, तथा डराने धमकाने को भर्त्सन कहते हैं ॥

उदाहरणों में माणवक आदि शब्द आमन्त्रित (२।३।४८) एवं वाक्य के आदि में स्थित हैं सो द्वित्व हो गया है, वाक्य से असूयादि अर्थों की प्रतीति हो ही रही है ।। सर्वत्र असूयादि अर्थों में द्वित्व किये हुये पूर्व वाले पद को *स्वरितमाम्रेडिते०* (८।२।१०३) से प्लुत स्वरित होता है, केवल भर्त्सन अर्थ में *आम्रेडितं भर्त्सने* (८।२।९५) से पर वाले पद = आम्रेडित को प्लुत उदात्त हुआ है, सो उदाहरणों में दर्शा दिया है ।।

एकं बहुव्रीहिवत् ।।८।१।९।।

एकम् १।१।। बहुव्रीहिवत् अ० ।। बहुव्रीहेरिवेति बहुव्रीहिवत् ।। *अर्थः*—द्विरुक्तमेकमित्येतच्छब्दरूपं बहुव्रीहिवद् भवति ।। बहुव्रीहिवद्भावस्य प्रयोजनं—सुब्लोपपुंवद्भावौ ।। *उदा०*—एकैकमक्षरं पठति । एकैकयाऽहुत्या जुहोति ।।

भाषार्थः—द्वित्व किये हुये [*एकम्*] एक शब्द को [*बहुव्रीहिवत्*] बहुव्रीहि के समान कार्य हो जाता है ।। एकैकम् यहाँ वीप्सा अर्थ (८।१।४) में द्वित्व होकर बहुव्रीहिवद्भाव होने से 'एकम् एकम्' यहाँ जो विभक्ति थी उसका *सुपो धातु०* (२।४।७१) से लुक् हो गया । पश्चात् वृद्धि एकादेश (६।१।८५) करके एकैक से 'सु' आया उसको *अतोऽम्* (७।१।२४) से अम् होकर एकैकम् बन गया । स्त्रीलिङ्ग में एकैकया यहाँ भी इसी प्रकार एकया एकया में विभक्ति लुक् करके 'एका एकया' रहा, *स्त्रियाः पुंवद्०* (६।३।३२) से पुंवद्भाव होकर एकएकया बना । वृद्धि एकादेश करके एकैकया (३।१) बन गया ।।

यहाँ से '*बहुव्रीहिवत्*' की अनुवृत्ति ८।१।१० तक जायेगी ।।

आबाधे च ।।८।१।१०।।

आबाधे ७।१।। च अ० ।। *अनु०*—बहुव्रीहिवत्, सर्वस्य द्वे ।। आबाधनमाबाधः = पीडा । *भावे* (३।३।१८) इत्यनेनात्र घञ् ।। *अर्थः*—आबाधे वर्त्तमानस्य द्वे भवतो बहुव्रीहिवच्चास्य कार्यं भवति ।। *उदा०*—गतगतः, नष्टनष्टः, पतितपतितः । गतगता, नष्टनष्टा, पतितपतिता ।।

भाषार्थः—[*आबाधे*] आबाध = पीडा अर्थ में वर्त्तमान शब्द को [च] भी द्वित्व होता है, तथा उस शब्द को बहुव्रीहिवत् कार्य भी होता है ।। पूर्ववत् बहुव्रीहिवत् करने के प्रयोजन हैं ।।

कोई अपने प्रिय के चले जाने पर पीड़ित = दुखित हुआ हुआ वियोग में कहता है 'गतगत: = चला गया, नष्टनष्ट: = नष्ट हो गया' सो यही यहाँ आबाध अर्थ है। इस प्रकार प्रयोक्ता के कथन से यहाँ आबाधत्व की प्रतीति है॥ गतगत: आदि में सुप् लोप तथा गतगता आदि में सुप् लोप एवं पुंवद्भाव दोनों हुये हैं॥

कर्मधारयवदुत्तरेषु ॥८।१।११॥

कर्मधारयवत् अ० ॥ उत्तरेषु ७।३॥ *अर्थः*—इत उत्तरेषु द्विर्वचनेषु कर्मधारयवत् कार्यं भवतीति वेदितव्यम्॥ कर्मधारयस्य इव कर्मधारयवत्॥ कर्मधारयवत्त्वे प्रयोजनं—सुब्लोपपुंवद्भावान्तोदात्तत्वानि॥ *उदा०*—सुब्लोपः—पटुपटुः, मृदुमृदुः, पण्डितपण्डितः। पुंवद्भावः—पटुपट्वी, मृदुमृद्वी, कालककालिका। अन्तोदात्तत्वम्—पटुपटुः, पटुपट्वी॥

भाषार्थः—यहाँ से [*उत्तरेषु*] आगे द्विर्वचन करने में [*कर्मधारयवत्*] कर्मधारय समास के समान कार्य होते हैं, ऐसा जानना चाहिये॥ यह कार्यातिदेश है॥ कर्मधारयवत् करने का प्रयोजन—सुब्लोप, पुंवद्भाव, तथा अन्तोदात्तत्व है। सुप् का लोप तथा पुंवद्भाव पूर्ववत् है। *वोतो गुणवचनात्* (४।१।४४) से पट्वी मृद्वी शब्दों में ङीष् हुआ है, पूर्व पद में उसी की निवृत्ति पुंवद्भाव करने से होकर पटु मृदु शब्द रह गये। कालककालिका यहाँ *न कोपधायाः* (६।३।३५) से पुंवद्भाव का प्रतिषेध प्राप्त था, कर्मधारयवत्त्व होने से *पुंवत् कर्मधारय०* (६।३।४०) से पुंवद्भाव हो गया तो पूर्वपद वाले कालिका के टाप् एवं तन्निमित्तक इकार की निवृत्ति होकर कालककालिका बन गया। काला शब्द से *प्राणिवात्कः* (५।३।७०) से क, *केऽणः* (७।४।१३) से ह्रस्वत्व एवं *प्रत्ययस्थात्०* (७।३।४४) से इत्व होकर कालिका शब्द बना है, उसीको पुंवद्भाव हो गया। अन्तोदात्तत्व *समासस्य*[1] (६।१।२१७) से कर्मधारयवत् मानने से होता है। *अनुदात्तं च* (८।१।३) से आम्रेडित को अनुदात्त प्राप्त था, कर्मधारयवत् होने से

---

१. इस सूत्र को कार्यातिदेश मानने पर समासस्य का बाधक *अनुदात्तं च* से परत्व से अनुदात्त ही होना चाहिये, अत: इसी सूत्र से समास के अन्त को उदात्त विधान भी मानना चाहिये। शास्त्रातिदेश पक्ष में तो समासस्य हो जायेगा।

वह न होकर समास अन्तोदात्तत्व ही हुआ ॥ *प्रकारे गुण०* (८।१।१२) से सर्वत्र द्वित्व हुआ है ॥

यहाँ से '*कर्मधारयवत्*' की अनुवृत्ति ८।१।१५ तक जायेगी ॥

प्रकारे गुणवचनस्य ॥८।१।१२॥

प्रकारे ७।१॥ गुणवचनस्य ६।१॥ *स०*—गुणमुक्तवान् गुणवचनस्तस्य''तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—कर्मधारयवत् , सर्वस्य द्वे ॥ *अर्थः*—प्रकारे वर्त्तमानस्य गुणवचनस्य द्वे भवतः, कर्मधारयवत् चास्य कार्यं भवति । प्रकारः सादृश्यमिह गृह्यते ॥ *उदा०*—पटुपटुः, मृदुमृदुः, पण्डितपण्डितः ॥

भाषार्थः—[*प्रकारे*] प्रकार अर्थ में वर्त्तमान [*गुणवचनस्य*] गुणवचन शब्दों को द्वित्व होता है, और उसे कर्मधारयवत् कार्य भी होता है ॥ सादृश्य अर्थ वाले 'प्रकार' का यहाँ ग्रहण है, सो पटुपटुः का अर्थ है, कुछ कम पटु गुण वाला, अर्थात् यहाँ पूर्ण पटु की अपेक्षा से किसी में कुछ न्यूनता दिखाकर प्रकार = सादृश्य (उपमा) कहा जा रहा है । मृदुमृदुः का अर्थ होगा परिपूर्ण मृदुवाले की अपेक्षा से कुछ कम मृदु गुण वाला, सो सबमें ऐसा ही जानें ॥ पूर्व सूत्र से कर्मधारयवत् होने से पूर्ववत् अन्तोदात्तत्व *अनुदात्तं च* (८।१।३) का बाधक हो जायेगा ॥

अकृच्छ्रे प्रियसुखयोरन्यतरस्याम् ॥८।१।१३॥

अकृच्छ्रे ७।१॥ प्रियसुखयोः ६।२॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ *स०*—न कृच्छ्रोऽकृच्छ्रस्तस्मिन्''नञ्तत्पुरुषः । प्रियश्च सुखञ्च प्रियसुखे तयोः''इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—कर्मधारयवत् , सर्वस्य द्वे ॥ *अर्थः*—प्रिय सुख इत्येतयोरकृच्छ्रे द्योत्येऽन्यतरस्यां द्वे भवतः, कर्मधारयवच्चास्य कार्यं भवति ॥ *उदा०*—प्रियप्रियेण ददाति, सुखसुखेन ददाति । पक्षे—प्रियेण ददाति, सुखेन ददाति ॥

भाषार्थः—[*प्रियसुखयोः*] प्रिय तथा सुख शब्दों को [*अकृच्छ्रे*] अकृच्छ्र (कष्ट न होना) अर्थ द्योत्य हो तो [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प करके द्वित्व होता है, एवं कर्मधारयवत् कार्य उसको (द्वित्व किये हुये को) होता है ॥ 'प्रियप्रियेण ददाति' का अर्थ है, अत्यन्त निर्धन होने पर भी कोई वस्तु अनायास प्रसन्नता से दे देता है । इसी प्रकार 'सुखसुखेन' में समझें, यही यहाँ अकृच्छ्र है ॥ प्रियेण, सुखेन तृतीयान्त

शब्दों को द्वित्व करने पर कर्मधारयवत् होने से सुप् का लुक् हो गया तो 'प्रियप्रिय' रहा। पुनः तदन्त शब्द से तृतीया एकवचन 'टा' आकर प्रिय-प्रियेण, सुखसुखेन बन गया॥

यथास्वे यथायथम् ॥८।१।१४॥

यथास्वे ७।१॥ यथायथम् १।१॥ *स०*—यो यः स्वो यथास्वम्, तस्मिन्...। *यथाऽसादृश्ये* (२।१।७) इति वीप्सायामव्ययीभावसमासः॥ स्वशब्दो ह्यत्रात्मवचनः, आत्मीयवचनो वा॥ *अनु०*—कर्मधारयवत्, सर्वस्य द्वे॥ *अर्थः*—यथास्वेऽर्थे यथायथमिति निपात्यते, कर्मधारयवच्चास्य कार्यं भवति। यथाशब्दस्य द्विर्वचनं नपुंसकलिङ्गता च निपातनेन भवति। नपुंसकलिङ्गतया *ह्रस्वो नपुंसके०* (१।२।४७) इत्यनेन ह्रस्वः॥ *उदा०*—ज्ञाताः सर्वे पदार्था यथायथम्। सर्वेषां तु यथायथम्॥

भाषार्थः— [*यथास्वे*] यथास्वम् अर्थ में [*यथायथम्*] यथायथम् शब्द निपातन है, तथा कर्मधारयवत् कार्य भी इसे होता है। यथा शब्द को द्विर्वचन तथा नपुंसकलिङ्गता निपातन से होती है, नपुंसकलिङ्ग होने से *ह्रस्वो नपुंसके०* से ह्रस्व होकर यथायथम् बनेगा॥

यथास्वे में 'स्व' शब्द आत्मा (वस्तु का अपना स्वभाव) अथवा आत्मीय (उसकी अपनी स्वाभाविकता) अर्थ का वाचक है॥ ज्ञाताः सर्वे पदार्थाः यथायथम् का अर्थ है "मैंने सब पदार्थों के उनके अपने स्वभाव को जान लिया है"। सर्वेषां तु यथायथम् = अर्थात् सब की आत्मीयता = स्वाभाविकता को॥ कर्मधारयवत् होने से पूर्ववत् अन्तोदात्तत्व होता है॥

द्वन्द्वं रहस्यमर्यादावचनव्युत्क्रमणयज्ञपात्र-प्रयोगाभिव्यक्तिषु ॥८।१।१५॥

द्वन्द्वम् १।१॥ रहस्य...व्यक्तिषु ७।३॥ *स०*—यज्ञपात्राणां प्रयोगः यज्ञपात्रप्रयोगः, षष्ठीतत्पुरुषः। मर्यादायाः वचनं मर्यादावचनं, षष्ठी-तत्पुरुषः। रहस्यञ्च मर्यादावचनञ्च व्युत्क्रमणञ्च यज्ञपात्रप्रयोगश्च अभि-व्यक्तिश्च रहस्य...व्यक्तयस्तेषु...इतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—कर्मधारयवत्, सर्वस्य द्वे॥ *अर्थः*—रहस्य, मर्यादावचन, व्युत्क्रमण, यज्ञपात्रप्रयोग, अभिव्यक्ति इत्येतेष्वर्थेषु द्वन्द्वमिति निपात्यते कर्मधारयवत् चास्य कार्यं

भवति ॥ द्वन्द्वमित्यत्र द्विशब्दस्य द्विर्वचनम्, द्विर्वचने कृते पूर्वपदस्याम्भावः, उत्तरपदस्य चात्वं निपात्यते ॥ उदा०—रहस्ये—द्वन्द्वं मन्त्रयन्ते । मर्यादा-वचने—आचतुरं हीमे पशवो द्वन्द्वं मिथुनायन्ते । माता पुत्रेण पौत्रेण प्रपौत्रेण च मिथुनं गच्छति । व्युत्क्रमणे—द्वन्द्वं व्युत्क्रान्ताः । यज्ञपात्र-प्रयोगे—द्वन्द्वं न्यञ्चि यज्ञपात्राणि प्रयुनक्ति धीरः । अभिव्यक्तौ—द्वन्द्वं नारदपर्वतौ, द्वन्द्वं संकर्षणवासुदेवौ ॥

भाषार्थः—[*रहस्य···क्तिषु*] रहस्य, मर्यादावचन, व्युत्क्रमण, यज्ञपात्रप्रयोग अभिव्यक्ति इन अर्थों में [*द्वन्द्वम्*] द्वन्द्वम् यह शब्द निपातन है कर्मधारयवत् कार्य भी इसको होता है ॥ द्वि शब्द को द्विर्वचन कर लेने के पश्चात् पूर्वपद के इकार को अम् भाव एवं उत्तरपद के 'इ' को अत्व तथा नपुंसकत्व यहाँ निपातन है । 'द्वि औ, द्वि औ' इस स्थिति में कर्मधारयवद्भाव होने से सुप् का लुक् पूर्ववत् हुआ, एवं निपातन से अम् भाव एवं अत्व भी होकर द्वन्द्व रहा । नपुंसकलिङ्ग होने से द्वन्द्व शब्द से आये हुये सु को अम् (७।१।२४) होकर द्वन्द्वम् बन गया । कर्मधारयवद्भाव होने से अन्तोदात्तत्व भी यहाँ पूर्ववत् होगा ॥ रहस्य अर्थात् एकान्त । मर्यादावचन का अर्थ है स्थिति का अनतिक्रमण व्युत्क्रमण पृथक् अवस्थिति भेद को कहते हैं । अभिव्यक्ति अर्थात् साहचर्य ॥ उदा०—रहस्य में—द्वन्द्वं मन्त्रयन्ते (दो दो मिल कर परस्पर मन्त्रणा करते हैं) । मर्यादावचन में—आचतुरं हीमे पशवो द्वन्द्वं मिथुना-यन्ते (चौथी पीढ़ी तक ये पशु परस्पर मैथुन करते हैं) । माता पुत्रेण पौत्रेण प्रपौत्रेण च मिथुनं गच्छति (माता पुत्र-पौत्र-प्रपौत्र से संयुक्त होती है) । व्युत्क्रमण में—द्वन्द्वं व्युत्क्रान्ताः (दो दो वर्ग बना कर चले गए । यज्ञपात्रप्रयोग में—द्वन्द्वं न्यञ्चि यज्ञपात्राणि प्रयुनक्ति धीरः (धैर्यशाली अर्वाग्बिल = उलटे यज्ञपात्रों को दो दो को इकट्ठा वेदि में रखता है) । अभिव्यक्ति में—द्वन्द्वं नारदपर्वतौ (नारद और पर्वत दोनों का साह-चर्य) । द्वन्द्वं संकर्षणवासुदेवौ ॥

पदस्य ॥८।१।१६॥

पदस्य ६।१॥ *अर्थः*—प्रागपदान्तादधिकाराद् इतोऽग्रे वक्ष्यमाणानि कार्याणि पदस्य भवन्तीत्यधिकारो वेदितव्यः ॥ उदा०—वक्ष्यति—*संयोगान्तस्य लोपः* (८।२।२३) पचन्, यजन् ॥

भाषार्थः—यह अधिकार सूत्र है ॥ *अपदान्तस्य मूर्धन्यः* (८।३।५५) से पहिले २ अर्थात् ८।३।५४ तक के कहे हुये कार्य [*पदस्य*] पद के स्थान में होते हैं, ऐसा अधिकार जानना चाहिये ॥ शतृ प्रत्ययान्त पचन्त् यजन्त् पद के अन्त संयोग का लोप पचन् यजन् में हुआ है ॥

पदात् ॥८।१।१७॥

पदात् ५।१॥ *अनु०*—पदस्य ॥ *अर्थः*—अयमप्यधिकारः प्राक् *कुत्सने च सुप्यगोत्रादौ* (८।१।६९) । इतोऽग्रे वक्ष्यमाणानि कार्याणि पदात् पदस्य भवन्ति ॥ *उदा०*—वक्ष्यति-*आमन्त्रितस्य च* (८।१।१९) पचसि देवदत्त ॥

भाषार्थः—यह भी अधिकार सूत्र है । *कुत्सने च सुप्यगोत्रादौ* से पहिले २ कहे हुये कार्य [*पदात्*] पद से उत्तर पद के स्थान में होते हैं, ऐसा अधिकार जानना चाहिये ॥ पचसि देवदत्त यहाँ से पचसि पद से उत्तर देवदत्त आमन्त्रित संज्ञक पद को अनुदात्त हुआ है ॥

अनुदात्तं सर्वमपादादौ ॥८।१।१८॥

अनुदात्तम् १।१॥सर्वम् १।१॥अपादादौ ७।१॥स०-पादस्य आदिः पादादिः, षष्ठीतत्पुरुषः । न पादादिरपादादिस्तस्मिन्'''नञ्तत्पुरुषः ॥ *अर्थः*—अयमप्यधिकारः *तिङि चोदात्तवति*, (८।१।७१) इत्येतत्पर्यन्तम् । इत उत्तरं यद् वक्ष्यामस्तद् 'अनुदात्तं सर्वमपादादौ' इत्येवं तद् वेदितव्यम् ॥ *उदा०*—वक्ष्यति-*आमन्त्रितस्य* चेति-पचसि देवदत्त ॥

भाषार्थः—यह भी अधिकार सूत्र है, *तिङि चोदात्तवति* (८।१।७१) तक जायेगा । यहाँ से आगे जो कुछ कहेंगे वहाँ [*अपादादौ*] पाद के आदि में न हो तो [*सर्वम्*] सारा [*अनुदात्तम्*] अनुदात्त होता है, ऐसा अधिकार बैठता जायेगा ॥ पाद से यहाँ ऋचा का अथवा श्लोक का पाद गृहीत है सो 'उसके आदि में न हो तो' ऐसा अर्थ होगा ॥ पचसि देवदत्त यहाँ सम्पूर्ण आमन्त्रित संज्ञक को (२।३।४८) अनुदात्त होता है, क्योंकि इस सूत्र का *आमन्त्रितस्य च* में अधिकार है ॥

आमन्त्रितस्य च ॥८।१।१९॥

आमन्त्रितस्य ६।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ *अर्थः*—पदात् परस्यामन्त्रितस्य पदस्यापादादौ वर्त्त-

मानस्य सर्वस्यानुदात्तो भवति ॥ उदा०—पचसि देवदत्त। पचसि यज्ञदत्त ॥

भाषार्थः—पद से उत्तर [*आमन्त्रितस्य*] आमन्त्रित संज्ञक सम्पूर्ण पद को [च] भी पाद के आदि में वर्त्तमान न हो तो अनुदात्त होता है ॥ *आमन्त्रितस्य च* (६।१।१६२) से आद्युदात्त प्राप्त था, निघात कर दिया ॥ *सामन्त्रितम्* (२।३।४८) से आमन्त्रित संज्ञा होती है ॥

युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोर्वान्नावौ ॥८।१।२०॥

युष्मदस्मदोः ६।२॥ षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोः ६।२॥ वान्नावौ १।२॥ *स०*—युष्मद् च अस्मद् च युष्मदस्मदौ तयोः''इतरेतरद्वन्द्वः । षष्ठी च चतुर्थी च द्वितीया च षष्ठीचतुर्थीद्वितीयाः, तासु यौ तिष्ठतस्तौ षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थौ तयोः''इतरेतरद्वन्द्वगर्भतत्पुरुषः । वाम् च नौ च वान्नावौ, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ *अर्थः*—पदादुत्तरयोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोरपादादौ वर्त्तमानयोर्युष्मदस्मदोः पदयोर्यथासङ्ख्यं वाम् नौ इत्येतावादेशौ भवतोऽनुदात्तौ च तौ भवतः ॥ *उदा०*—षष्ठी-ग्रामो वां स्वम् । जनपदो नौ स्वम् । चतुर्थी-ग्रामो वां दीयते । जनपदो नौ दीयते । द्वितीया-ग्रामो वां पश्यति । ग्रामो नौ पश्यति ॥

भाषार्थः—पद से उत्तर [*षष्ठी''स्थयोः*] षष्ठी विभक्ति में स्थित अर्थात् षष्ठ्यन्त, चतुर्थ्यन्त तथा द्वितीयान्त जो अपादादि में वर्त्तमान [*युष्मदस्मदोः*] युष्मद् अस्मद् शब्द उनके सम्पूर्ण के स्थान में क्रमशः [*वान्नावौ*] वाम् तथा नौ आदेश होते हैं, एवं उन आदेशों को अनुदात्त भी होता है ॥ युष्मद् अस्मद् के षष्ठी चतुर्थी द्वितीया के बहुवचन, एकवचन में अन्य आदेश कहेंगे, अतः ये आदेश द्विवचन में जानने चाहियें ॥ उदा०—ग्रामो वां स्वम् (ग्राम तुम दोनों की मिल्कियत है) जनपदो नौ स्वम् (जनपद हम दोनों की मिल्कियत है)। ग्रामो वां दीयते (ग्राम तुम दोनों के लिये दिया जाता है) जनपदो नौ दीयते (जनपद हम दोनों के लिये दिया जाता है)। ग्रामो वां पश्यति (ग्राम तुम दोनों को देखता है) ग्रामो नौ पश्यति (ग्राम हम दोनों को देखता है) ॥ सर्वत्र ग्राम या जनपद से उत्तर आदेश हुये हैं। षष्ठी में युवयोः,

आवयोः, चतुर्थी में युवाभ्याम्, आवाभ्याम्, तथा द्वितीया में युवाम् आवाम् के स्थान में ये आदेश क्रमशः हुये हैं ॥

यहाँ से *'युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोः'* की अनुवृत्ति ८।१।२६ तक जायेगी ॥

बहुवचनस्य वस्नसौ ॥८।१।२१॥

बहुवचनस्य ६।१॥ वस्नसौ १।२॥ *स०*—वश्च नश्च वस्नसौ, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोः, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ *अर्थः*—पदादुत्तरयोर्बहुवचनान्तयोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोरपादादौ वर्त्तमानयोर्युष्मदस्मदोः पदयोर्यथासङ्ख्यं वस् नस् इत्येतावादेशौ भवतोऽनुदात्तौ च तौ भवतः ॥ *उदा०*—षष्ठी—ग्रामो वः स्वम्, जनपदो नः स्वम्। चतुर्थी—ग्रामो वो दीयते, जनपदो नो दीयते। द्वितीया—ग्रामो वः पश्यति, जनपदो नः पश्यति ॥

भाषार्थः—पद से उत्तर अपादादि में वर्त्तमान जो [*बहुवचनस्य*] बहुवचन में षष्ठ्यन्त चतुर्थ्यन्त एवं द्वितीयान्त युष्मद् अस्मद् पद उनको (सम्पूर्ण को) क्रमशः [*वस्नसौ*] वस्, नस् आदेश होते हैं, और वे आदेश अनुदात्त होते हैं ॥ 'ग्रामो वः स्वम्' की सिद्धि परि० १।१।५५ में देखें। सर्वत्र स्थानिवत् कार्य इसी प्रकार जान लेना चाहिये। षष्ठी में युष्माकम्, अस्माकम् चतुर्थी में युष्मभ्यम्, अस्मभ्यम् तथा द्वितीया में युष्मान् अस्मान् के स्थान में क्रमशः वस्, नस् आदेश जानें। सर्वत्र पद से उत्तर है ही ॥

तेमयावेकवचनस्य ॥८।१।२२॥

तेमयौ १।२॥ एकवचनस्य ६।१॥ *स०*—तेश्च मेश्च तेमयौ, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीस्थयोः, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ *अर्थः*—पदादुत्तरयोरेकवचनान्तयोः षष्ठीचतुर्थीस्थयोरपादादौ वर्त्तमानयोर्युष्मदस्मदोः पदयोर्यथासङ्ख्यं ते मे इत्येतावादेशौ भवतोऽनुदात्तौ च तौ भवतः ॥ *उदा०*—षष्ठी—ग्रामस्ते स्वम्, ग्रामो मे स्वम्। चतुर्थी—ग्रामस्ते दीयते, ग्रामो मे दीयते ॥ द्वितीयान्तस्यादेशान्तरविधानात् नोदाह्रियते ॥

भाषार्थः—पद से उत्तर अपादादि में वर्त्तमान जो [*एकवचनस्य*] एकवचन वाले षष्ठ्यन्त चतुर्थ्यन्त युष्मद् अस्मद् पद उनको क्रमशः

[*तेमयौ*] ते, मे आदेश होते हैं, और वे आदेश अनुदात्त होते हैं ॥ द्वितीयान्त को अन्य आदेश आगे कहेंगे, अतः यहाँ 'द्वितीया' की अनुवृत्ति का सम्बन्ध नहीं लगेगा ॥ षष्ठी में तव, मम तथा चतुर्थी में तुभ्यम्, मह्यम् के स्थान में क्रमशः ते, मे आदेश होते हैं ॥

यहाँ से '*एकवचनस्य*' की अनुवृत्ति ८।१।२३ तक जायेगी ॥

त्वामौ द्वितीयायाः ॥८।१।२३॥

त्वामौ १।२॥ द्वितीयायाः ६।१॥ *स०*—त्वाश्च माश्च त्वामौ, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—एकवचनस्य, युष्मदस्मदोः, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ *अर्थः*—द्वितीयाया यदेकवचनं तदन्तयोरपादादौ वर्त्तमानयोर्युष्मदस्मदोः पदयोर्यथासङ्ख्यं त्वा मा इत्येतावादेशौ भवतोऽनुदात्तौ च तौ ॥ *उदा०*—ग्रामस्त्वा पश्यति, ग्रामो मा पश्यति ॥

भाषार्थः—पद से उत्तर अपादादि में वर्त्तमान [*द्वितीयायाः*] द्वितीया विभक्ति का जो एकवचन तदन्त युष्मद् अस्मद् पद को यथासङ्ख्य करके [*त्वामौ*] त्वा मा आदेश होते हैं, और वे अनुदात्त होते हैं ॥ द्वितीया एकवचनान्त त्वाम्, माम् को क्रमशः त्वा मा आदेश यहाँ हुये हैं ॥

न चवाहाहैवयुक्ते ॥८।१।२४॥

न अ० ॥ चवाहाहैवयुक्ते ७।१॥ *स०*—चश्च वाश्च हश्च अहश्च एवश्च चवाहाहैवाः, तैर्युक्तः चवाहाहैवयुक्तस्तस्मिन् द्वन्द्वगर्भतृतीयातत्पुरुषः ॥ *अनु०*—युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोः, पदस्य, पदात् ॥ *अर्थः*—च, वा, ह, अह, एव एभिर्योगे युष्मदस्मदोर्वान्नावाद्य आदेशा न भवन्ति ॥ पूर्वैः सूत्रैः प्राप्ताः प्रतिषिध्यन्ते ॥ *उदा०*—ग्रामस्तव च स्वम्, ग्रामो मम च स्वम्। ग्रामो युवयोश्च स्वम्, ग्राम आवयोश्च स्वम्। ग्रामो युष्माकं च स्वम्, ग्रामोऽस्माकं च स्वम्। ग्रामस्तुभ्यं च दीयते, ग्रामो मह्यं च दीयते। ग्रामो युवाभ्यां च दीयते, ग्राम आवाभ्यां च दीयते। ग्रामो युष्मभ्यं च दीयते, ग्रामोऽस्मभ्यं च दीयते। ग्रामस्त्वां च पश्यति, ग्रामो मां च पश्यति। ग्रामो युवां च पश्यति, ग्राम आवां च पश्यति। ग्रामो युष्मांश्च पश्यति, ग्रामोऽस्मांश्च पश्यति। वा—ग्रामस्तव वा स्वम् ग्रामो मम वा स्वम्। ग्रामो युवयोर्वा स्वम्, ग्राम आवयोर्वा स्वम्। ग्रामो युष्माकं वा स्वम्, ग्रामोऽस्माकं वा स्वम्। ग्राम-

स्तुभ्यं वा दीयते, ग्रामो मह्यं वा दीयते। ग्रामो युवाभ्यां वा दीयते, ग्राम आवाभ्यां वा दीयते। ग्रामो युष्मभ्यं वा दीयते, ग्रामोऽस्मभ्यं वा दीयते। ग्रामस्त्वां वा पश्यति, ग्रामो मां वा पश्यति। ग्रामो युवां वा पश्यति, ग्राम आवां वा पश्यति। ग्रामो युष्मान् वा पश्यति, ग्रामोऽस्मान् वा पश्यति। ह—ग्रामस्तव ह स्वम्, ग्रामो मम ह स्वम्। ग्रामो युवयोर्ह स्वम्, ग्राम आवयोर्ह स्वम्। ग्रामो युष्माकं ह स्वम्, ग्रामोऽस्माकं ह स्वम्। ग्रामस्तुभ्यं ह दीयते, ग्रामो मह्यं ह दीयते। ग्रामो युवाभ्यां ह दीयते, ग्राम आवाभ्यां ह दीयते। ग्रामो युष्मभ्यं ह दीयते, ग्रामोऽस्मभ्यं ह दीयते। ग्रामस्त्वां ह पश्यति, ग्रामो मां ह पश्यति। ग्रामो युवां ह पश्यति, ग्राम आवां ह पश्यति। ग्रामो युष्मान् ह पश्यति, ग्रामोऽस्मान् ह पश्यति। अह—ग्रामस्तवाह स्वम्, ग्रामो ममाह स्वम्। ग्रामो युवयोरह स्वम्, ग्राम आवयोरह स्वम्। ग्रामो युष्माकमह स्वम्, ग्रामोऽस्माकमह स्वम्। ग्रामस्तुभ्यमह दीयते, ग्रामो मह्यमह दीयते। ग्रामो युवाभ्यामह दीयते, ग्राम आवाभ्यामह दीयते। ग्रामो युष्मभ्यमह दीयते, ग्रामोऽस्मभ्यमह दीयते। ग्रामस्त्वामह पश्यति, ग्रामो मामह पश्यति। ग्रामो युवामह पश्यति, ग्राम आवामह पश्यति। ग्रामो युष्मान् अह पश्यति, ग्रामोऽस्मान् अह पश्यति। एव—ग्रामस्तवैव स्वम्, ग्रामो ममैव स्वम्। ग्रामो युवयोरेव स्वम्, ग्राम आवयोरेव स्वम्। ग्रामो युष्माकमेव स्वम्, ग्रामोऽस्माकमेव स्वम्। ग्रामस्तुभ्यमेव दीयते, ग्रामो मह्यमेव दीयते। ग्रामो युवाभ्यामेव दीयते, ग्राम आवाभ्यामेव दीयते। ग्रामो युष्मभ्यमेव दीयते, ग्रामोऽस्मभ्यमेव दीयते। ग्रामस्त्वामेव पश्यति, ग्रामो मामेव पश्यति। ग्रामो युवामेव पश्यति, ग्राम आवामेव पश्यति। ग्रामो युष्मान् एव पश्यति, ग्रामोऽस्मान् एव पश्यति॥

भाषार्थः—[*चवाहाहैवयुक्ते*] च, वा, ह, अह, एव इनके योग में षष्ठ्यन्त, चतुर्थ्यन्त, द्वितीयान्त युष्मद् अस्मद् शब्दों को पूर्व सूत्रों से प्राप्त वाम् नौ आदि आदेश [न] नहीं होते॥ एकवचन, द्विवचन, बहुवचन में जो भी आदेश पूर्व सूत्रों से कह आये हैं, उन सबका च, वा आदि के योग में प्रतिषेध हो जाता है, सो उसी प्रकार उदाहरण सभी वचनों में दर्शा दिये हैं॥

यहाँ से '*न*' की अनुवृत्ति ८।१।२६ तक जायेगी॥

पश्यार्थैश्चानालोचने ॥८।१।२५॥

पश्यार्थैः ३।१॥ च अ० ॥ अनालोचने ७।१॥ स०—पश्योऽर्थो येषां ते पश्यार्थास्तैः...बहुव्रीहिः ॥ दर्शनं पश्यः, अस्मादेव निपातनात्, *कृत्यल्युटो बहुलम्* (३।३।११३) इति वा भावे शप्रत्ययः । *पाघ्राध्मा०* (७।३।७८) सूत्रेण च पश्यादेशः ॥ न आलोचनमनालोचनम्, तस्मिन्... नञ्तत्पुरुषः ॥ दर्शनं ज्ञानम् । आलोचनं चक्षुर्विज्ञानम् ॥ *अनु०*—न, युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोः, पदस्य, पदात् ॥ *अर्थः*—अनालोचनेऽर्थे वर्त्तमानैः पश्यार्थैः = ज्ञानार्थैर्धातुभिर्योगे युष्मदस्मदोर्वान्नावादयो न भवन्ति ॥ *उदा०*—ग्रामस्तव स्वं समीक्ष्यागतः, ग्रामो मम स्वं समीक्ष्यागतः । एवं सर्वत्र द्विवचने बहुवचनेऽपि उदाहार्यम् । ग्रामस्तुभ्यं दीयमानं समीक्ष्यागतः, ग्रामो मह्यं दीयमानं समीक्ष्यागतः । ग्रामस्त्वां समीक्ष्यागतः, ग्रामो मां समीक्ष्यागतः ॥

भाषार्थः—[*अनालोचने*] अनालोचन = न देखना अर्थ में वर्त्तमान [*पश्यार्थैः*] पश्य = दर्शन = ज्ञान अर्थ वाले धातुओं के योग में [*च*] भी युष्मद् अस्मद् को पूर्व सूत्रों से प्राप्त वाम् नौ आदि आदेश नहीं होते ॥ आलोचन चक्षु द्वारा देखने को कहते हैं। पश्यार्थ अर्थात् दर्शनार्थक = ज्ञानार्थक। साधारणतया 'पश्य' का देखना अर्थ ही लिया जाता है पर यहाँ अनालोचन निषेध के कारण पश्य से देखना अर्थ नहीं लेना किन्तु यहाँ ज्ञान अर्थ गृहीत है, तभी तो अनालोचन विषय सम्भव है ॥ उदाहरणों में 'समीक्ष्य' ज्ञानार्थक धातु का योग है, अतः वाम्, नौ आदि आदेश नहीं हुए। 'ग्रामस्तव स्वं समीक्ष्यागतः' का अर्थ है, ग्राम तुम्हारी मिल्कियत है ऐसा मन से निरूपण = ज्ञान करके आ गया। इस प्रकार यहाँ 'समीक्ष्य' का अनालोचन अर्थ है। इसी प्रकार अन्य उदाहरणों का भी अर्थ जानें ॥

सपूर्वायाः प्रथमाया विभाषा ॥८।१।२६॥

सपूर्वायाः ५।१॥ प्रथमायाः ५।१॥ विभाषा १।१॥ स०—सह = विद्यमानं पूर्वं यस्याः सा सपूर्वा, तस्याः ... बहुव्रीहिः । *तेन सहेति०* (२।२।२८) इत्यनेनात्र समासः, *वोपसर्जनस्य* (६।३।८०) इत्यनेन च सहस्य 'स' आदेशः ॥ *अनु०*—न, युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोः, पदात्,

पदस्य ।। *अर्थः*—विद्यमानपूर्वात् प्रथमान्तात् पदादुत्तरयोर्युष्मदस्मदो विभाषा वान्नावादय आदेशा न भवन्ति ।। *उदा०*—ग्रामे कम्बलस्ते स्वम्, पक्षे—ग्रामे कम्बलस्तव स्वम् । ग्रामे कम्बलो मे स्वम्, ग्रामे कम्बलो मम स्वम् । एवं सर्वत्र द्विवचनबहुवचनेऽपि पूर्ववदुदाहार्यम् । ग्रामे कम्बलस्ते दीयते, ग्रामे कम्बलस्तुभ्यं दीयते । ग्रामे कम्बलो मे दीयते, ग्रामे कम्बलो मह्यं दीयते । ग्रामे छात्रास्त्वा पश्यन्ति, ग्रामे छात्रास्त्वां पश्यन्ति । ग्रामे छात्राः मा पश्यन्ति, ग्रामे छात्राः मां पश्यन्ति ।।

भाषार्थः—[*सपूर्वायाः*] विद्यमान है पूर्व में (कोई पद) जिससे ऐसे [*प्रथमायाः*] प्रथमान्त पद से उत्तर षष्ठ्यन्त, चतुर्थ्यन्त तथा द्वितीयान्त युष्मद् अस्मद् शब्द को [*विभाषा*] विकल्प से वाम् नौ आदि आदेश नहीं होते, अर्थात् विकल्प से होते हैं ।। ग्रामे कम्बलस्ते स्वम् आदि सभी उदाहरणों में प्रथमान्त कम्बल शब्द से पूर्व 'ग्रामे' पद है, अतः सपूर्व = विद्यमान पूर्व वाले कम्बल प्रथमान्त पद से उत्तर विकल्प से वाम्, नौ आदि आदेश हो गये ।। सर्वत्र एकवचनान्त उदाहरण ही दिखा दिये हैं, इसी प्रकार पूर्व सूत्रों से कहे आदेश द्विवचनान्त बहुवचनान्त को भी विकल्प से होंगे। सभी वचनों में उदाहरण हमने *न चवा०* (८।१।२४) में दिखाये हैं, तद्वत् ही जान लेना चाहिये ।।

तिङो गोत्रादीनि कुत्सनाभीक्ष्ण्ययोः ।।८।१।२७।।

तिङः ५।१।। गोत्रादीनि १।३।। कुत्सनाभीक्ष्ण्ययोः ७।२।। *स०*—गोत्र आदिर्येषां तानि गोत्रादीनि, बहुव्रीहिः । कुत्सनञ्च आभीक्ष्ण्यञ्च कुत्सनाभीक्ष्ण्ये तयोः''' इतरेतरद्वन्द्वः ।। *अनु०*—अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ।। *अर्थः*—कुत्सने, आभीक्ष्ण्ये चार्थे वर्त्तमानानि तिङन्तात् पदात् पराणि गोत्रादीनि अनुदात्तानि भवन्ति ।। *उदा०*—कुत्सने—पचति गोत्रम्, जल्पति गोत्रम् । पचति ब्रुवम्, जल्पति ब्रुवम् । आभीक्ष्ण्ये—पचति पचति गोत्रम्, जल्पति जल्पति गोत्रम् ।।

भाषार्थः—[*तिङः*] तिङन्त पद से उत्तर [*कुत्सनाभीक्ष्ण्ययोः*] कुत्सन (निन्दा) तथा आभीक्ष्ण्य (पौनः पुन्य) अर्थ में वर्त्तमान [*गोत्रादीनि*] गोत्रादि गण पठित पदों को अनुदात्त होता है ।। जो अपने पुरु-

धार्थ को त्याग कर अपने गोत्र की उच्चतादि[1] बताकर जीवन यापन करता है, उसे 'पचति गोत्रम्' कहते हैं। पच् धातु यहाँ व्यक्त = ख्यापन अर्थ में है। ब्रुव शब्द भी निन्दार्थवाची है, अतः पचति ब्रुवम् का अर्थ 'क्या खाक पकाता है' ऐसा होगा। पचति २ गोत्रम् का अर्थ है, विवाहादि विषय में पुनः २ गोत्रोच्चारण करता है ॥ *नित्यवीप्सयोः* (८।१।४) से नित्यता आभीक्ष्ण्य अर्थ में पचति २ द्वित्व हुआ है। ब्रुव को वचि (२।४।५३) आदेश निपातन से नहीं हुआ है ॥

तिङ्ङतिङः ॥८।१।२८॥

तिङ् १।१॥ अतिङः ५।१॥ *स०*—न तिङ् अतिङ्, तस्मात्.. नञ्-तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ *अर्थः*—अतिङन्तात् पदादुत्तरं तिङन्तं पदमनुदात्तं भवति ॥ *उदा०*—देवदत्तः पचति। यज्ञदत्तः पचति ॥

भाषार्थः—[*अतिङः*] अतिङ् पद से उत्तर जो [*तिङ्*] तिङ् पद उसको (सम्पूर्ण को) अनुदात्त होता है ॥ सर्वत्र सूत्रार्थ में 'अपादादौ' का सम्बन्ध लगा लेना चाहिये ॥ उदाहरण में देवदत्त यज्ञदत्त अतिङ् पद से उत्तर 'पचति' तिङ् पद है, सो उसे सब स्वर हट कर सर्वानुदात्त = निघात हो गया ॥ निघात करने से पूर्व पचति का क्या स्वर था, यह परि० ३।१।४ में देखें ॥ यहाँ से आगे इस सूत्र के अपवाद सूत्र कहे जायेंगे ॥

यहाँ से '*तिङ्*' की अनुवृत्ति ८।१।६६ तक जायेगी ॥

न लुट् ॥८।१।२९॥

न अ० ॥ लुट् १।१॥ *अनु०*—तिङ्, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ *अर्थः*—पदात् परं लुडन्तं तिङन्तं नानुदात्तं भवति ॥ पूर्वेणातिप्रसक्ते प्रतिषेध आरभ्यते ॥ *उदा०*—श्वः कर्त्ता, श्वः कर्त्तारौ, मासेन कर्त्तारः ॥

---

१. गोत्र बताकर जीविका यापन करना निन्दित है, मनुस्मृति में कहा है—
न भोजनार्थं स्वे विप्रः कुलगोत्रे निवेदयेत्।
भोजनार्थं हि ते शंसन्वान्ताशीत्युच्यते बुधैः ॥ मनु० ३।७१॥

भाषार्थः—पद से उत्तर [लुट्] लुडन्त तिङन्त को अनुदात्त [न] नहीं होता॥ पूर्व सूत्र से अतिप्रसक्ति प्राप्त थी, यहाँ से उसका प्रतिषेध आरम्भ करते हैं॥ कर्त्ता कर्त्तारौ कर्त्तारः की स्वर सिद्धि सूत्र ६।१।१८० में देखें॥

यहाँ से 'न' की अनुवृत्ति ८।१।६६ तक जायेगी॥

निपातैर्यद्यदिहन्तकुविन्नेच्चेच्चण्कच्चिद्यत्रयुक्तम् ॥८।१।३०॥

निपातैः ३।३॥ यद्यदिहन्तकुविन्नेच्चेच्चण्कच्चिद्यत्रयुक्तम् १।१॥ स०—यत् च यदिश्च हन्तश्च कुवित् च नेत् च चेत् च चण् च कच्चित् च यत्रश्च यद्यदि ''यत्रास्तैर्युक्तं यद्यदि'''युक्तम्, द्वन्द्वगर्भतृतीयातत्पुरुषः॥ अनु०—न, तिङ् अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य॥ *अर्थः*—यत्, यदि, हन्त, कुवित्, नेत्, चेत्, चण् कच्चित्, यत्र इत्येतैर्निपातैर्युक्तं तिङन्तं नानुदात्तं भवति॥ *उदा०*—यत्—यत् करोति, यत् पचति। यदंग्ने स्याम-हं त्वम् (ऋ० ८।४४।२३) यदि—यदि करोति, यदि पचति। यु॒ा यदी कृथः (ऋ० ५।७४।५)। हन्त—हन्त करोति, हन्त पचति। कुवित्—कुवित् करोति, कुवित् पचति। नेत्—नेज्जिह्मायन्तो नरकं पताम। चेत्—स चेद् भुङ्क्ते, स चेदधीते। चण्—अयं च मरिष्यति। कच्चित्—कच्चिद् भुङ्क्ते, कच्चिदधीते। अर्चिन्तिभिश्चक्रमा कच्चित् (ऋ० ४।१२।४)। यत्र—यत्र भुङ्क्ते, यत्राधीते। पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति (ऋ० १।८९।९)॥

भाषार्थः—[*यद्य'''युक्तम्*] यत्, यदि, हन्त, कुवित्, नेत्, चेत्, चण्, कच्चित्, यत्र इन [*निपातैः*] निपातों से युक्त तिङन्त को अनुदात्त नहीं होता॥ पूर्ववत् प्राप्ति थी, प्रतिषेध कर दिया॥ सिद्धि परिशिष्ट में देखें॥

नह प्रत्यारम्भे ॥८।१।३१॥

नह अ०॥ प्रत्यारम्भे ७।१॥ *अनु०*—न, तिङ्, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य॥ प्रत्यारम्भः = पुनरारम्भः॥ नह इति निपात-समुदायः॥ *अर्थः*—नह इत्यनेन युक्तं तिङन्तं नानुदात्तं भवति प्रत्यारम्भे॥ *उदा०*—नह भोक्ष्यसे, नहाध्येष्यसे॥

भाषार्थः—[*नह*] नह से युक्त तिङन्त को [*प्रत्यारम्भे*] प्रत्यारम्भ होने पर अनुदात्त नहीं होता॥ प्रत्यारम्भ पुनः आरम्भ को कहते हैं।

खाओ या पढ़ो ऐसी आज्ञा देने के पश्चात् मना कर देने पर क्रोध से या उपहास से पुनः प्रतिषेध से सम्बन्धित वाक्य 'नह भोक्ष्यसे' = नहीं खाओगे (अर्थात् खाना पड़ेगा) ऐसा कहता है, यही प्रत्यारम्भ पुनः-आरम्भ है ॥ नह शब्द न तथा ह मिलकर निपातों के समुदाय रूप में निर्दिष्ट है ॥ भोक्ष्यसे अध्येष्यसे यहाँ थास् को से (३।४।८०) होकर 'स्य' के अदुपदेश होने से *तास्यनुदात्ते०* (६।१।१८०) से 'से' अनुदात्त तथा स्य प्रत्ययस्वर से उदात्त है, पश्चात् से को स्वरित (६।४।६५) हो गया ॥

सत्यं प्रश्ने ॥८।१।३२॥

सत्यम् १।१॥ प्रश्ने ७।१॥ *अनु०*—न, तिङ्, अनुदात्तं सर्वमपादादौ पदात्, पदस्य ॥ *अर्थः*—सत्यमित्यनेन युक्तं तिङन्तं नानुदात्तं भवति प्रश्ने सति ॥ *उदा०*—सत्यं भोक्ष्यसे, सत्यमध्येष्यसे ॥

भाषार्थः—[*सत्यम्*] सत्यम् शब्द से युक्त तिङन्त को [*प्रश्ने*] प्रश्न होने पर अनुदात्त नहीं होता ॥ सत्यं भोक्ष्यसे = सचमुच खाओगे? पढ़ोगे? यहाँ प्रश्न किया जा रहा है ॥ सिद्धि पूर्व सूत्र में देखें ॥

अङ्गाप्रातिलोम्ये ॥८।१।३३॥

अङ्ग अ० ॥ अप्रातिलोम्ये ७।१॥ *स०*—न प्रातिलोम्यम् अप्रातिलोम्यं तस्मिन्...नञ्तत्पुरुषः ॥ प्रातिलोम्यं प्रतिकूलता, तदभावोऽप्रतिकूलताऽनुकूल्यमिति यावत् । *गुणवचनब्रा०* (५।१।१२३) इत्यनेन ष्यञ् ॥ *अनु०*—न, तिङ्, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ *अर्थः*—अप्रातिलोम्ये गम्यमानेऽङ्ग इत्यनेन युक्तं तिङन्तं नानुदात्तं भवति ॥ *उदा०*—अङ्ग कुरु, अङ्ग पच, अङ्ग पठ ॥

भाषार्थः—[*अप्रातिलोम्ये*] अप्रातिलोम्य = अनुकूलता गम्यमान हो तो [*अङ्ग*] अङ्ग शब्द से युक्त तिङन्त को अनुदात्त नहीं होता ॥ कुरु की सिद्धि सूत्र ६।४।१०६ में देखें । कुरु प्रत्यय स्वर से अन्तोदात्त है, अर्थात् विकरण उ उदात्त है । पच, पठ धातुस्वर से आद्युदात्त हैं । पच् शप् हि = यहाँ हि का *अतो हेः* (६।४।१०५) से लुक् हुआ है तथा शप् पहले पित् स्वर से अनुदात्त था पश्चात् स्वरित हो गया है ॥ अङ्ग कुरु = अर्थात् हाँ तुम करो । यही यहाँ अनुकूलता है ॥

यहाँ से '*अप्रातिलोम्ये*' की अनुवृत्ति ८।१।३४ तक जायेगी ॥

हि च ॥८।१।३४॥

हि अ० ॥ च अ० ॥ *अनु०*—अप्रातिलोम्ये, न, तिङ्, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ *अर्थः*—हि इत्यनेन युक्तं तिङन्तमप्रातिलोम्ये गम्यमाने नानुदात्तं भवति ॥ *उदा०*—त्वं हि कुरु, त्वं हि पठ ॥

भाषार्थः—[*हि*] हि से युक्त तिङन्त को [*च*] भी अप्रातिलोम्य गम्यमान होने पर अनुदात्त नहीं होता ॥ पूर्ववत् स्वर सिद्धियाँ हैं ॥

यहाँ से '*हि*' की अनुवृत्ति ८।१।३५ तक जायेगी ॥

छन्दस्यनेकमपि साकाङ्क्षम् ॥८।१।३५॥

छन्दसि ७।१॥ अनेकम् १।१॥ अपि अ० ॥ साकाङ्क्षम् १।१॥ *स०*—न एकम् अनेकम्, नञ्तत्पुरुषः । सह आकाङ्क्षया वर्त्तते = साकाङ्क्षम्, बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—हि, तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ पदात्, पदस्य ॥ *अर्थः*—हियुक्तं साकाङ्क्षं तिङन्तमनेकमपि नानुदात्त भवति, अपिग्रहणात् एकमपि क्वचिद् न भवति छन्दसि विषये कदाचिदेकं कदाचिदनेकमित्यर्थः ॥ *उदा०*—अनेकं तावत्—अनृतं हि मत्तो वदति पाप्मा एनं विपुनाति । एकमपि—अग्निर्हि अग्रे उदजयत् तमिन्द्रोऽनूदजयत् । अजा ह्यग्नेरजनिष्ट गर्भात्, सा वा अपश्यज्जनितारमग्रे (तै० सं० ४।२।१०।३) ॥

भाषार्थः—हि से युक्त [*साकाङ्क्षम्*] साकाङ्क्ष [*अनेकम्*] अने तिङन्तों को [*अपि*] तथा अपि ग्रहण से एक को भी कहीं २ अनुदा नहीं होता [*छन्दसि*] वेद विषय में ॥

'अनृतं हि मत्तो वदति' तथा 'पाप्मा एनं विपुनाति' यहाँ वदति विपुनाति दोनों तिङन्त हेतु हेतुमद्भाव (फल) होने से साकाङ्क्ष एवं दोनों 'हि' से युक्त हैं । हेतु है—क्योंकि मत्त = पागल झूठ बोल है, अतः पाप्मा = मत्तपन उसको शुद्ध कर देता है अर्थात् मत्तता कारण अनृत दोष का भागी नहीं होता—यह हेतुमद्भाव है । यहाँ दो साकाङ्क्ष तिङन्तों को अनुदात्त नहीं होता, अतः वदति पचति समान आद्युदात्त है, एवं विपुनाति का 'ना' प्रत्यय स्वर से उदात्त है अग्निर्हि अग्रे''' यहाँ भी 'वि' उपसर्ग को *तिङि चोदा०* (८।१।७१) निघात हो ही जायेगा । दोनों उदजयत्, अनूदजयत् तिङन्त 'हि' से यु

तथा पूर्ववत् ही हेतु हेतुमद्भाव से साकाङ्क्ष हैं। अर्थ है—क्योंकि अग्नि पहले जय को प्राप्त हुआ, अतः अग्नि के पश्चात् इन्द्र ने जय को प्राप्त किया। यहाँ यद्यपि पूर्ववत् दोनों तिङन्त 'हि' से युक्त हैं, किन्तु सूत्र में अपि ग्रहण से एक को ही (उदजयत् को ही) अनुदात्त का निषेध प्रकृत सूत्र से हुआ, द्वितीय अनूदजयत् को *तिङ्ङतिङः* (८।१।२८) से प्राप्त निघात ही हुआ। उत्पूर्वक जि धातु का लङ् में उदजयत् रूप बना है, सो अजयत् आद्युदात्त है, क्योंकि अट् *लुङ्लङ्०* (६।४।७१) से उदात्त होता है। शेष अच् पूर्ववत् अनुदात्त हो गये। अनु उत् पूर्वक 'जि' से लङ् में ही अनूदजयत् बनेगा॥ अजा ह्यग्ने···यहाँ भी पूर्ववत् साकाङ्क्षत्व जानें। अर्थ है—'क्योंकि अजा अग्नि के गर्भ से उत्पन्न हुई उसने (अजा ने) उत्पन्न करने वाले को देखा (अनुभव किया) पहले (प्रथम)। इस प्रकार अजनिष्ट, अपश्यत् दोनों के 'हि' से युक्त एवं साकाङ्क्ष होने पर भी 'अपि' ग्रहण से एक अजनिष्ट तिङ् को ही निघात प्रतिषेध हुआ, अपश्यत् को नहीं। सो अपश्यत् *तिङ्ङतिङः* से निघात एवं अजनिष्ट पूर्ववत् आद्युदात्त है, अर्थात् अट् उदात्त है। जनी प्रादुर्भावे धातु से लुङ् में सिच् को इट् आगमादि होकर अ ज न् इ ष् त = अजनिष्ट बना है। अपश्यत् दृशिर् धातु के लङ् में *पाघ्राध्मा०* (७।३।७८) से पश्य आदेश होकर अ पश्य अ त् = अपश्यत् बना है॥

यावद्यथाभ्याम् ॥८।१।३६॥

यावद्यथाभ्याम् ३।२॥ *स०*—यावत् च यथा च यावद्यथे, ताभ्याम्··· इतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य॥ *अर्थः*—यावद् यथा इत्येताभ्यां युक्तं तिङन्तं नानुदात्तं भवति॥ *उदा०*—यावद् भुङ्क्ते, यथा भुङ्क्ते। यावदधीते, यथाऽधीते देवदत्तः पचति यावत्, देवदत्तः पचति यथा॥

भाषार्थः—[*यावद्यथाभ्याम्*] यावत्, यथा इनसे युक्त तिङन्त को अनुदात्त नहीं होता॥ स्वर सिद्धि परि० ८।१।३० में देखें॥

यहाँ से '*यावद्यथाभ्याम्*' की अनुवृत्ति ८।१।३८ तक जायेगी॥

पूजायां नानन्तरम् ॥८।१।३७॥

पूजायाम् ७।१॥ न अ०॥ अनन्तरम् १।१॥ *स०*—न अन्तरम्

विद्यतेऽस्य तदनन्तरम्, बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—यावद्यथाभ्याम्, तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ *अर्थः*—यावद् यथा इत्येताभ्यां युक्तमनन्तरं तिङन्तं पूजायां विषये नानुदात्तं न भवति, अर्थादनुदात्तमेव भवति ॥ *उदा०*—यावत् पचति शोभनम्, यावत् करोति चारु। यथा पचति शोभनम्, यथा करोति चारु ॥

भाषार्थः—यावत् तथा यथा से युक्त [*अनन्तरम्*] अनन्तर = अव्यवहित तिङन्त को [*पूजायाम्*] पूजा विषय में अननुदात्त [*न*] नहीं होता, अर्थात् अनुदात्त ही होता है ॥ दो प्रतिषेध हो जाने से अनुदात्त ही होता है, ऐसा अर्थ निकला ॥ पूर्व सूत्र से अननुदात्त की प्राप्ति थी, निषेध कर दिया, तो *तिङ्ङतिङः* (८।१।२८) से निघात ही हो गया। उदाहरणों में यावत्, यथा से अनन्तर ही तिङ् है ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ८।१।३८ तक जायेगी ॥

उपसर्गव्यपेतं च ॥८।१।३८॥

उपसर्गव्यपेतम् १।१॥ च अ० ॥ *स०*—उपसर्गेण व्यपेतमुपसर्गव्यपेतम्, तृतीयातत्पुरुषः ॥ *अनु०*—पूजायां नानन्तरम्, यावद्यथाभ्याम्, तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ *अर्थः*—यावद्यथाभ्यां युक्तमुपसर्गेण व्यपेतं = व्यवहितं चानन्तरं तिङन्तं पूजायां विषये नानुदात्तं न भवति, अर्थादनुदात्तमेव ॥ *उदा०*—यावत् प्रपचति शोभनम्, यावत् प्रकरोति चारु। यथा प्रपचति शोभनम्, यथा प्रकरोति चारु ॥

भाषार्थः—यावत् यथा से युक्त एवं [*उपसर्गव्यपेतम्*] उपसर्ग से व्यपेत = व्यवहित अनन्तर तिङन्त को [*च*] भी पूजा विषय में अननुदात्त नहीं होता, अर्थात् अनुदात्त होता है ॥ पूर्व सूत्र से अनन्तर = अव्यवधान में ही कहा था, यहाँ केवल उपसर्ग का व्यवधान होने पर भी कह दिया। सर्वत्र उदाहरणों में यावत्, यथा एवं तिङ् के मध्य में प्र उपसर्ग का व्यवधान है। शोभनम्, चारु कहने से यहाँ स्पष्ट पूजा अर्थ है ही, अतः पूर्ववत् तिङ् को अनुदात्त हो जायेगा ॥

तुपश्यपश्यताहैः पूजायाम् ॥८।१।३९॥

तुपश्यपश्यताहैः ३।३॥ पूजायाम् ७।१॥ *स०*—तुपश्य० इत्यत्रेतरे-

तरद्वन्द्वः ॥ अनु०—तिङ्, नु, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ अर्थः—तु, पश्य, पश्यत, अह इत्येतैर्युक्तं तिङन्तं पूजायां विषये नानुदात्तं भवति ॥ उदा०—तु-माणवकस्तु भुङ्क्ते शोभनम्। पश्य-पश्य माणवको भुङ्क्ते शोभनम्। पश्यत-पश्यत माणवको भुङ्क्ते शोभनम्। अह-अह माणवको भुङ्क्ते शोभनम् ॥

भाषार्थः—[*तुपश्यपश्यताहैः*] तु, पश्य, पश्यत, अह इनसे युक्त तिङन्त को [*पूजायाम्*] पूजा विषय में अनुदात्त नहीं होता ॥ पूर्ववत् *तिङ्ङतिङः* से प्राप्त अनुदात्त का प्रतिषेध होकर यथाप्राप्त स्वर हो गया ॥ भुङ्क्ते की स्वरसिद्धि परि० ८।१।३० में देखें ॥

यहाँ से '*पूजायाम्*' की अनुवृत्ति ८।१।४० तक जायेगी ॥

अहो च ॥८।१।४०॥

अहो अ०॥ च अ० ॥ ॥ *अनु०*—पूजायाम्, तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ *अर्थः*—अहो इत्यनेन युक्तं तिङन्तं नानुदात्तं भवति पूजायां विषये ॥ *उदा०*—अहो देवदत्तः पचति शोभनम्। अहो विष्णुमित्रः करोति चारु ॥

भाषार्थः—[*अहो*] अहो से युक्त तिङन्त को [च] भी पूजा विषय में अनुदात्त नहीं होता ॥ सिद्धियाँ परि० ८।१।३० में देखें ॥

यहाँ से '*अहो*' की अनुवृत्ति ८।१।४१ तक जायेगी ॥

शेषे विभाषा ॥८।१।४१॥

शेषे ७।१॥ विभाषा १।१॥ *अनु०*—अहो, तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ *अर्थः*—अहो इत्यनेन युक्तं तिङन्तं शेषे विकल्पेन नानुदात्तं भवति ॥ यदन्यत् पूजायाः, स शेषः ॥ *उदा०*—कटमहो करिष्यसि, मम गेहमेष्यसि। पक्षेऽनुदात्तमेव-कटमहो करिष्यसि, मम गेहमेष्यसि ॥

भाषार्थः—अहो से युक्त तिङन्त को पूजा विषय से [*शेषे*] शेष विषयों में [*विभाषा*] विकल्प करके अनुदात्त नहीं होता ॥ पूर्व सूत्र में पूजा विषय में कहा था, यहाँ 'शेषे' ग्रहण से पूजा विषय से ही शेष लिया जायेगा ॥ पक्ष में यथाप्राप्त (८।१।२८) अनुदात्त ही होगा।

अनुदात्त निषेध पक्ष में करिष्यसि आदि का 'स्य' प्रत्यय स्वर से उदात्त है। पित् स्वर से 'सि' अनुदात्त था, पश्चात् स्वरित हो गया ॥

यहाँ से '*विभाषा*' की अनुवृत्ति ८।१।४२ तक जायेगी ॥

पुरा च परीप्सायाम् ॥८।१।४२॥

पुरा अ० ॥ च अ० ॥ परीप्सायाम् ७।१॥ *अनु०*—विभाषा, तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ *अर्थः*—पुरा इत्यनेन युक्तं तिङन्तं परीप्सायामर्थे विभाषा नानुदात्तं भवति ॥ परीप्सा त्वरा ॥ *उदा०*—अधीष्व माणवक पुरा विद्योतते विद्युत्, पुरा स्तनयति स्तनयित्नुः। पुरा विद्योतते विद्युत्, पुरा स्तनयति स्तनयित्नुः ॥

भाषार्थः—[*पुरा*] पुरा से युक्त तिङन्त को [च] भी [*परीप्सायाम्*] परीप्सा = शीघ्रता अर्थ गम्यमान होने पर अनुदात्त नहीं होता ॥ विद्योतते आदि में भविष्यत् के अर्थ में *यावत्पुरानिपातयोर्लट्* (३।३।४) से लट् लकार हुआ है, अतः 'अधीष्व माणवक...' आदि वाक्यों का अर्थ है—'बच्चो पढ़ो नहीं तो अभी बिजली चमकेगी' यहाँ पुरा शब्द भविष्यत् काल की आसन्नता को प्रकट करता है, सो परीप्सा अर्थ गम्यमान है ॥ विद्योतते का 'ते' *तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेश०* (६।१।१८०) से अनुदात्त है, इस प्रकार द्योतते धातु स्वर से आद्युदात्त है और *तिङि चोदात्तवति* (८।१।७१) से वि अनुदात्त है चुरादिगणस्थ अदन्त स्तन धातु से णिच् आकर एवं अकार लोप (६।४।६४) होकर *सनाद्यन्ता०* (३।१।३२) से 'स्तनि' धातु बनी। सो *धातोः* (६।१।१५६) से अन्तोदात्त अर्थात् स्तनि का 'इ' उदात्त हुआ। शप् तिप् आकर स्तने अ ति = स्तनय् अ ति = स्तनयति बना। अर्थात् 'इ' को गुण तथा 'अय्' कर लेने पर 'न' का 'अ' उदात्त रहा ॥ अनुदात्त पक्ष में वि उपसर्ग स्वर से उदात्त होगा ॥

नन्वित्यनुज्ञैषणायाम् ॥८।१।४३॥

ननु अ० ॥ इति अ० ॥ अनुज्ञैषणायाम् ७।१॥ *स०*—अनुज्ञाया एषणा = प्रार्थना अनुज्ञैषणा, तस्याम्...षष्ठीतत्पुरुषः ॥ किंचित् कर्त्तुं स्वयमेवोद्यतस्यैवं क्रियतामित्यनुज्ञानमनुज्ञा ॥ *अनु०*—तिङ्, न, अनु-

दात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ *अर्थः*—अनुज्ञैषणायां विषये ननु इत्यनेन युक्तं तिङन्तं नानुदात्तं भवति ॥ *उदा०*—ननु क॒रोमि॑ भोः ॥

भाषार्थः—[*अनुज्ञैषणायाम्*] अनुज्ञैषणा विषय में [*ननु*] ननु [*इति*] इस शब्द से युक्त तिङन्त को अनुदात्त नहीं होता ॥ कुछ कार्य स्वयं ही करने को उद्यत हुये को कहना कि 'ऐसा करें' यह अनुज्ञा है। एषणा अर्थात् प्रार्थना। अनुज्ञा की प्रार्थना अनुज्ञैषणा है। ननु करोमि भोः का अर्थ है—श्रीमन्, क्या मैं करूं? सिद्धि पूर्व सूत्रों में देखें ॥

किं क्रियाप्रश्नेऽनुपसर्गमप्रतिषिद्धम् ॥८।१।४४॥

किम् १।१॥ क्रियाप्रश्ने ७।१॥ अनुपसर्गम् १।१॥ अप्रतिषिद्धम् १।१॥ *स०*—क्रियायाः प्रश्नः क्रियाप्रश्नस्तस्मिन्...षष्ठीतत्पुरुषः। न विद्यते उपसर्गोऽस्य तदनुपसर्गम्, बहुव्रीहिः। प्रतिषेधः प्रतिषिद्धम्, भावे निष्ठा नपुंसके० (३।३।११४) इत्यनेन। न प्रतिषिद्धमस्येत्यप्रतिषिद्धम्, तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ *अर्थः*—क्रियाप्रश्ने वर्त्तमानेन किंशब्देन युक्तमनुपसर्गमप्रतिषिद्धं तिङन्तं नानुदात्तं भवति ॥ *उदा०*—किं देवदत्तः पच॑ति[1], आहोस्विद् भुङ्क्ते? किं देवदत्तः शेते॑ आहोस्विदधीते? ॥

भाषार्थः—[*क्रियाप्रश्ने*] क्रिया के प्रश्न में वर्त्तमान जो [*किम्*] किम् शब्द उससे युक्त [*अनुपसर्गम्*] उपसर्ग से रहित तथा [*अप्रतिषिद्धम्*] अप्रतिषिद्ध = प्रतिषेध रहित तिङन्त को अनुदात्त नहीं होता ॥ 'किं देवदत्तः...'का अर्थ है—क्या देवदत्त पकाता है, अथवा खाता है, यहाँ किम् से पकाता है अथवा खाता है क्रिया का प्रश्न किया जा रहा है, अतः किम् शब्द क्रियाप्रश्न में वर्त्तमान है। पचति आदि तिङ् यहाँ उपसर्ग से रहित एवं प्रतिषेध से रहित भी हैं, सो अनुदात्त नहीं हुआ ॥ शेते की स्वर सिद्धि *तास्यनुदात्त०* (६।१।१८०) सूत्र में देखें ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ८।१।४५ तक जायेगी ॥

---

१. उदाहरणों में कोई २ किम् से युक्त पूर्व वाला तिङन्त ही मानते हैं, द्वितीय नहीं, अतः पूर्व वाले पचति को ही अनुदात्त का प्रतिषेध होगा, द्वितीय भुङ्क्ते को नहीं। तथा कोई २ दोनों तिङों को ही किम् से युक्त मानते हैं, अतः उनके मत में दोनों को ही अनुदात्त नहीं होगा। हमने वाक्य स्थित दोनों ही तिङन्तों को किम् से युक्त मानकर निघात के प्रतिषेध का स्वर दिखाया है।

लोपे विभाषा ॥८।१।४५॥

लोपे ७।१॥ विभाषा १।१॥ *अनु०*—किं क्रियाप्रश्नेऽनुपसर्गमप्रतिषिद्धम्, तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ *अर्थः*—किमो लोपे सति क्रियाप्रश्नेऽनुपसर्गमप्रतिषिद्धं तिङन्तं विभाषा नानुदात्तं भवति ॥ यत्र किमोऽर्थो गम्यते न च प्रयुज्यते तत्र किमो लोपो ज्ञेयः ॥ *उदा०*—देवदत्तः पचति आहोस्वित् पठति ? । पक्षे—देवदत्तः पचति आहोस्वित् पठति ? ॥

भाषार्थः—किम् का [*लोपे*] लोप होने पर क्रिया के प्रश्न में अनुपसर्ग अप्रतिषिद्ध तिङन्त को [*विभाषा*] विकल्प करके अनुदात्त नहीं होता ॥ पक्ष में यथाप्राप्त (८।१।२८) अनुदात्त ही होगा ॥ यहाँ किसी सूत्र से किम् के लोप का तात्पर्य नहीं है, किन्तु जहाँ किम् का अर्थ गम्यमान हो, किन्तु उसका प्रयोग न हो रहा हो, वही किम् का अदर्शन = अर्थात् लोप समझा जायेगा । इस प्रकार उदाहरण में 'क्या देवदत्त पकाता है, अथवा पढ़ता है' ? ऐसा अर्थ होने से किम् का अर्थ है, किन्तु वह प्रयुक्त नहीं है, इसलिये किम् का लोप ही माना गया । स्वर सिद्धियाँ पूर्ववत् जानें ॥

एहिमन्ये प्रहासे लृट् ॥८।१।४६॥

एहिमन्ये लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ प्रहासे ७।१॥ लृट् १।१॥ *स०*—एहिश्च मन्ये च एहिमन्ये, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ *अर्थः*—एहिमन्ये इत्यनेन युक्तं लृडन्तं तिङन्तं प्रहासे गम्यमाने नानुदात्तं भवति ॥ प्रकृष्टो हासः प्रहासः ॥ *उदा०*—एहि मन्ये ओदनं भोक्ष्यसे नहि भोक्ष्यसे, भुक्तः सोऽतिथिभिः । एहि मन्ये रथेन यास्यसि, नहि यास्यसि यातस्तेन पिता ॥

भाषार्थः—[*एहिमन्ये*] एहि तथा मन्ये से युक्त [*लृट्*] लृडन्त तिङन्त को [*प्रहासे*] प्रहास (हँसी) गम्यमान हो तो अनुदात्त नहीं होता ॥ मन धातु का मन्ये उत्तम पुरुष का रूप है, एवं इण् का लोट् मध्यम पुरुष का 'एहि' है, सो 'एहिमन्ये' क्रियापदों में अनुकरण मानकर समस्त निर्देश किया है । इस प्रकार एहि मन्ये ऐसे समुदाय के उपपद रहते भोक्ष्यसे अनुदात्त नहीं हुआ । भोक्ष्यसे की स्वर सिद्धि

सूत्र ८।१।३१ में देखें। यास्यसि में भी सिप् को पित् स्वर से अनुदात्तत्व तथा स्य को प्रत्ययस्वर से उदात्तत्व होगा। पश्चात् 'सि' को स्वरित हो जायेगा॥ मन्यसे के स्थान पर मन्ये एवं भोक्ष्ये के स्थान पर भोक्ष्यसे यह पुरुष व्यत्यय *प्रहासे च मन्यो०* (१।४।१०५) से हुआ है। उदाहरणार्थ वहीं देखें, जिससे प्रहास स्पष्ट हो जायेगा॥

जात्वपूर्वम् ॥८।१।४७॥

जातु अ०॥ अपूर्वम् १।१॥ *स०*—अविद्यमानं पूर्वं यस्मात् तद् अपूर्वम्, बहुव्रीहिः॥ *अनु०*—तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य॥ *अर्थः*—अविद्यमानपूर्वेण जातु इत्यनेन युक्तं तिङन्तं नानुदात्तं भवति॥ उदा०—जातु भोक्ष्यसे, जातु करिष्यामि॥

भाषार्थः—[*अपूर्वम्*] जिससे पूर्व कोई पद विद्यमान नहीं है ऐसे [*जातु*] जातु शब्द से युक्त तिङन्त को अनुदात्त नहीं होता॥ सिद्धियों में पूर्ववत् प्रत्यय स्वर से 'स्य' उदात्त है॥

यहाँ से '*अपूर्वम्*' की अनुवृत्ति ८।१।५० तक जायेगी॥

किंवृत्तं च चिदुत्तरम् ॥८।१।४८॥

किंवृत्तम् १।१॥ च अ०॥ चिदुत्तरम् १।१॥ *स०*—किमो वृत्तं किंवृत्तम् षष्ठीतत्पुरुषः॥ वृत्तमित्यधिकरणे (३।४।७६) क्तः, तेनाधिकरणवा० (२।३।६८) इति 'किमः' इत्यत्र षष्ठी। *अधिकरणवाचिना च* (२।२।१३) इत्यनेन समासप्रतिषेधे प्राप्तेऽस्मादेव निपातनात् समासः॥ चित् उत्तरं यस्मात् तत् चिदुत्तरम्, बहुव्रीहिः॥ *अनु०*—अपूर्वम्, तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य॥ *अर्थः*—अविद्यमानपूर्वं चिदुत्तरं यत् किंवृत्तं तेन युक्तं तिङन्तं नानुदात्तं भवति॥ किंवृत्तग्रहणेन विभक्त्यन्तं डतरडतमप्रत्ययान्तं च किमो रूपं गृह्यते॥ *उदा०*—कश्चिद् भुङ्क्ते, कश्चिद् भोजयति, कश्चिद् अधीते। केनचित् करोति। कस्मैचिद् ददाति। डतर—कतरश्चित् करोति। डतम—कतमश्चिद् भुङ्क्ते॥

भाषार्थः—[*चिदुत्तरम्*] जिससे उत्तर 'चित्' है, तथा जिससे पूर्व कोई शब्द नहीं है, ऐसे [*किंवृत्तम्*] किंवृत्त शब्द से युक्त तिङन्त को [*च*] भी अनुदात्त नहीं होता॥ किंवृत्त से किम् शब्द से उत्पन्न जो

विभक्तियाँ तद्विभक्त्यन्त शब्द तथा डतर डतम प्रत्ययान्त किम् शब्द व ग्रहण है॥ वृत्तं में अधिकरण में क्त हुआ है। वर्त्ततेऽस्मिन्नि वृत्तम्। किमो वृत्तं = किम् का (उसमें) रहना किंवृत्त है॥ भुङ्क आदि की स्वरसिद्धि परि० ८।१।३० में देखें। भोजयति णिजन्त धा है, सो धातु स्वर से 'भोजि' का 'इ' उदात्त रहा। पश्चात् गुण अयादे करके 'ज' का अ उदात्त हो गया। ददाति को आद्युदात्त *अनुदात्ते* (६।१।१८४) से होता है॥

आहो उताहो चानन्तरम् ॥८।१।४९॥

आहो अ०॥ उताहो अ०॥ च अ०॥ अनन्तरम् १।१॥ *स०*— अविद्यमानमन्तरं व्यवधानं यस्य तदनन्तरम्, बहुव्रीहिः॥ *अनु०*—अपू र्वम्, तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य॥ *अर्थः*— आहो, उताहो इत्येताभ्याम् अविद्यमानपूर्वाभ्याम् युक्तमनन्तरं तिङन्त नानुदात्तं भवति॥ *उदा०*—आहो भुङ्क्ते, उताहो भुङ्क्ते। आहो पठति, उताहो पठति॥

भाषार्थः—अविद्यमान पूर्व वाले [*आहो उताहो*] आहो उताहो से युक्त जो [*अनन्तरम्*] अव्यवहित = व्यवधान रहित तिङ् उसको [च] भी अनुदात्त नहीं होता है॥ पूर्ववत् स्वर-सिद्धियाँ हैं॥

यहाँ से '*आहो उताहो*' की अनुवृत्ति ८।१।५० तक जायेगी॥

शेषे विभाषा ॥८।१।५०॥

शेषे ७।१॥ विभाषा १।१॥ *अनु०*—आहो उताहो, अपूर्वम्, तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य॥ *अर्थः*—आहो, उताहो इत्येताभ्यामपूर्वाभ्यां युक्तं तिङन्तं शेषे विभाषा नानुदात्तं भवति। अनन्तरापेक्षं शेषत्वम्॥ *उदा०*—आहो देवदत्तः पचति, पक्षे-आहो देवदत्तः पचति। उताहो देवदत्तः पठति, पक्षे-उताहो देवदत्तः पठति॥

भाषार्थः—पूर्व सूत्र में 'आहो उताहो' से अनन्तर तिङ् को अन नुदात्त कहा था। यहाँ 'शेषे' ग्रहण अनन्तर की अपेक्षा से रखा है। अविद्यमानपूर्व आहो, उताहो शब्दों से युक्त तिङन्त को [*शेषे*] अनन्तर से शेष विषय (अर्थात् व्यवधान) में [*विभाषा*] विकल्प करके अनुदात्त

नहीं होता ॥ इस प्रकार पक्ष में अनुदात्त यथाप्राप्त होता है ॥ उदाहरणों में आहो उताहो एवं तिङन्त के मध्य में 'देवदत्त:' पद का व्यवधान होने पर विकल्प से अननुदात्त हो गया ॥ पूर्व सूत्र से अप्राप्त था, विकल्प कर दिया ॥

गत्यर्थलोटा लृण्न चेत् कारकं सर्वान्यत् ॥८।१।५१॥

गत्यर्थलोटा ३।१॥ लृट् १।१॥ न अ० ॥ चेत् अ० ॥ कारकम् १।१॥ सर्वान्यत् १।१॥ स०—गतिरर्थो येषां ते गत्यर्था:, बहुव्रीहि: । गत्यर्थानां लोट् गत्यर्थलोट्, तेन''षष्ठीतत्पुरुष: । सर्वञ्च तदन्यत् च सर्वान्यत्, कर्मधारयतत्पुरुष: ॥ अनु०—तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ अर्थ:—गत्यर्थलोटा युक्तं लृडन्तं तिङन्तं नानुदात्तं भवति, न चेत् कारकं सर्वमन्यद् भवति ॥ यस्मिन् कारके (कर्त्तरि कर्मणि वा) लोट्, तस्मिन्नेव कारके यदि लृडपि स्यादित्यर्थ: ॥ उदा०—आगच्छ देवदत्त ग्रामं द्रक्ष्यस्येनम् । आगच्छ देवदत्त ग्राममोदनं भोक्ष्यसे । कर्मणि—उह्यन्तां देवदत्तेन शालयस्तेनैव भोक्ष्यन्ते । उह्यन्तां यज्ञदत्तेन शालयो देवदत्तेन भोक्ष्यन्ते ॥

भाषार्थ:—[*गत्यर्थलोटा*] गति अर्थ वाले धातुओं के लोट् लकार से युक्त [*लृट्*] लृडन्त तिङन्त को अनुदात्त नहीं होता, [*चेत्*] यदि [*कारकम्*] कारक [*सर्वान्यत्*] सारा अन्य [*न*] न हो तो ॥

तिङ् से वाच्य कर्त्ता कर्म कारक होते हैं, अत: यहाँ कारक से कर्त्ता कर्म का ही ग्रहण है । जिस कारक = कर्त्ता अथवा कर्म में लोडन्त हो, उसी कारक में यदि लृडन्त (जिसे अनुदात्त का निषेध कर रहे हैं) वह भी हो तो, अर्थात् लोडन्त एवं लृडन्त तिङ् का वाच्य कारक भिन्न २ न हो, यही 'सर्वान्यत्' का तात्पर्यार्थ है । पूर्व दो उदाहरणों में 'आगच्छ' एवं द्रक्ष्यसि भोक्ष्यसे दोनों (लोडन्त एवं लृडन्त) तिङन्त कर्तृवाच्य (कारक) में हैं, एवं पश्चात् के उदाहरणों में उह्यन्तां लोडन्त तथा भोक्ष्यन्ते लृडन्त दोनों कर्मवाच्य में हैं इस प्रकार 'सर्वान्यत्' नहीं है । गम् तथा वह गत्यर्थक धातुएँ हैं, सो लोट् प्रत्ययान्त आगच्छ आदि से युक्त लृडन्त पद है ही, अत: उसे अननुदात्त हो गया ॥ 'उह्यन्तां देवदत्तेन'' का अर्थ है—देवदत्त के द्वारा धान लाई (ढोई) जावे, उसी के द्वारा खाई जाये । द्रक्ष्यसि में सृजिदृशो० (६।१।५७) से दृश् को अम्

आगम, *व्रश्चभ्रस्ज०* (८।२।३६) से षत्व तथा *षढो: क: सि* (८।२।४१) से कत्व हुआ है। प्रत्ययस्वर से 'स्य' सर्वत्र उदात्त है। भुज् का कर्त्ता अथवा कर्म में भोक्ष्यते ही रूप बनेगा। *चो: कु:* (८।२।३०) से कुत्व ग् एवं *खरि च* (८।४।५४) से चर्त्व क् यहाँ हुआ है।। अन्तिम वाक्य में दोनों क्रियाओं का वाच्य कर्म एक ही है, अत: कर्ता में भेद होने पर भी सूत्र प्रवृत्त हो जाता है।।

यहाँ से '*गत्यर्थलोटा न चेत् कारकं सर्वान्यत्*' की अनुवृत्ति ८।१।५३ तक जायेगी।।

लोट् च ।।८।१।५२।।

लोट् १।१।। च अ० ।। *अनु०* - गत्यर्थलोटा न चेत् कारकं सर्वान्यत्, तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ।। *अर्थ:*—गत्यर्थलोटा युक्तं लोडन्तं च तिङन्तं नानुदात्तं भवति, न चेत् कारकं सर्वान्यद् भवति ।। उभयोर्लोडन्तयोरेकं कारकं यदि भवतीत्यर्थ: ।। *उदा०*—आगच्छ देवदत्त ग्रामं पश्य। आव्रज विष्णुमित्र ग्रामं शाधि। आगम्यतां देवदत्तेन ग्रामो दृश्यतां यज्ञदत्तेन ।।

भाषार्थ:—गत्यर्थक धातुओं के लोडन्त से युक्त [*लोट्*] लोडन्त तिङन्त को [*च*] भी अनुदात्त नहीं होता, यदि कारक (दोनों तिङों के) सारे अन्य न हों तो ।। पूर्व सूत्र से लृडन्त को ही अननुदात्त प्राप्त था, लोडन्त को भी कह दिया ।। 'न चेत् कारकं सर्वान्यत्' की व्याख्या पूर्ववत् समझें। यहाँ आगच्छ आदि से युक्त 'पश्य' आदि लोडन्त हैं। आगम्यताम् दृश्यताम् में कर्मवाच्य में लकार है ।। लोट् मध्यम पुरुष में दृश् को 'पश्य्' आदेश तथा हि लुक् (६।४।१०५) होकर पश्य् अ रहा। अब 'पश्य' आदेश धातु स्वर से उदात्त था, सो शप् के अनुदात्त होने से आद्युदात्त पद हुआ। शाधि की सिद्धि सूत्र ६।४।२२ में देखें, यह 'हि' के अपित् होने से प्रत्यय स्वर से अन्तोदात्त है। *आमेत:* (३।४।९०) आदि लगकर दृश् यक् ताम् = दृश्यताम् बना। 'दृश् ताम्' यहाँ 'ताम्' का 'आ' प्रत्यय स्वर से उदात्त है। यक् विकरण 'ताम्' के पश्चात् हुआ है, अत: सतिशिष्ट (वा० ६।१।१५२) होने से 'य' को उदात्त होना चाहिये किन्तु '*सतिशिष्टोऽपि विकरणस्वरो लसार्वधातुकस्वरं न बाधते*' (*महाभाष्य* ६।१।१५२) इस भाष्य वचन से विकरणस्वर सार्वधातुकस्वर को नहीं बाधता, अत: 'ताम्' को स्वर की प्राप्ति होने पर *तास्यनु*-

दात्तेन्ङिदुपदेश० (६।१।१८०) से ताम् अनुदात्त हो जाता है, अतः मध्योदात्त ही द्रुश्यतांम् का स्वर रहता है ॥

यहाँ से *'लोट्'* की अनुवृत्ति ८।१।५४ तक जायेगी ॥

विभाषितं सोपसर्गमनुत्तमम् ॥८।१।५३॥

विभाषितम् १।१॥ सोपसर्गम् १।१॥ अनुत्तमम् १।१॥ *स०*—उपसर्गेण सह वर्त्तते सोपसर्गम्, बहुव्रीहिः। न उत्तममनुत्तमम्, नञ्तत्पुरुषः॥ *अनु०*—लोट्, गत्यर्थलोटा न चेत् कारकं सर्वान्यत्, तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य॥ *अर्थः*—गत्यर्थलोटा युक्तं सोपसर्गमुत्तमपुरुषवर्जितं लोडन्तं तिङन्तं विभाषा नानुदात्तं भवति, न चेत् कारकं सर्वान्यद् भवति॥ प्राप्तविभाषेयम्॥ विभाषा शब्देन समानार्थो विभाषितशब्दः॥ *उदा०*—आगच्छ देवदत्त ग्रामं प्रविश। पक्षे—आगच्छ देवदत्त ग्रामं प्रविश। आगच्छ देवदत्त ग्रामं प्रशाधि। पक्षे—आगच्छ देवदत्त ग्रामं प्रशाधि॥

भाषार्थः—गत्यर्थक धातुओं के लोडन्त से युक्त [*सोपसर्गम्*] उपसर्ग सहित एवं [*अनुत्तमम्*] उत्तम पुरुष वर्जित जो लोडन्त तिङन्त उसे [*विभाषितम्*] विकल्प करके अनुदात्त नहीं होता, यदि कारक सभी अन्य (भिन्न २) न हों तो॥ पूर्व सूत्र से नित्य प्रतिषेध प्राप्त था, सोपसर्ग में विकल्प कह दिया, सो यह प्राप्त विभाषा है॥ 'विभाषित' शब्द विभाषा का समानार्थक है॥ प्रशाधि के अन्तोदात्त स्वर की सिद्धि पूर्ववत् जानें प्र को *तिङि चोदात्तवति* (८।१।७१) से निघात होगा। प्र पूर्वक विश् (तुदा०) धातु से लोट् में हि लोप हो जाने पर विकरण स्वर और प्र को निघात हुआ। प्रविश् श = प्रविश यहाँ श विकरण प्रत्यय स्वर से उदात्त है, अतः अन्तोदात्त 'प्रविश' पद रहा। पक्ष में तिङन्त को यथाप्राप्त निघात होगा और 'प्र' उपसर्ग स्वर (फिट्० ८०) से उदात्त होगा॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ८।१।५४ तक जायेगी॥

हन्त च ॥८।१।५४॥

हन्त अ०॥ च अ०॥ *अनु०*—विभाषितं सोपसर्गमनुत्तमम्, लोट्, तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य॥ *अर्थः*—हन्त इत्यनेन च युक्तं सोपसर्गमुत्तमवर्जितं लोडन्तं तिङन्तं विभाषितं नानुदात्तं

भवति ॥ उदा०—हन्त प्रविश। पक्षे—हन्त प्रविश। हन्त प्रशाधि पक्षे—हन्त प्रशाधि ॥

भाषार्थः—[*हन्त*] हन्त से युक्त सोपसर्ग उत्तम पुरुष वर्जित लोडन्त तिङन्त को [च] भी विकल्प से अनुदात्त नहीं होता ॥ *निपातैर्यद्यदि०* (८।१।३०) से यहाँ नित्य निघातप्रतिषेध प्राप्त था, विकल्प कर दिया ॥ पूर्ववत् सिद्धियाँ जानें ॥

आम एकान्तरमामन्त्रितमनन्तिके ॥८।१।५५॥

आमः ५।१॥ एकान्तरम् १।१॥ आमन्त्रितम् १।१॥ अनन्तिके ७।१॥ *स०*—एकं (पदम्) अन्तरं यस्य तदेकान्तरम्, बहुव्रीहिः। न अन्तिकमनन्तिकम्, तस्मिन्''' नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ *अर्थः*—आमः परमेकपदान्तरमनन्तिके वर्तमानमामन्त्रितं नानुदात्तं भवति ॥ *उदा०*—आम् पचसि देवदत्त। आम् भो देवदत्त ॥ अनन्तिके इत्यनेन सामीप्यार्थस्य प्रतिषेधः क्रियते। सूत्रलाघवाय 'दूरे' इत्यस्यानुक्तत्वात् यन्न समीपं यच्च न दूरं तादृग् अर्थो गृह्यते। तेनात्रैकश्रुतेः प्राप्त्यभावे प्राप्तमनुदात्तत्वमेव प्रतिषिध्यते ॥

भाषार्थः-[*आमः*] आम् से उत्तर [*एकान्तरम्*] एक पद का अन्तर = व्यवधान है जिसके मध्य में ऐसे [*आमन्त्रितम्*] आमन्त्रितसंज्ञक पद को [*अनन्तिके*] अनन्तिक (जो समीप नहीं अर्थात् न दूर न समीप) अर्थ में अनुदात्त नहीं होता ॥ उदाहरणों में आम् से उत्तर एवं आमन्त्रितसंज्ञक 'देवदत्त' के मध्य में 'पचसि' एवं 'भोः' एक पद का व्यवधान है, अतः एकपदान्तरित = एक पद से व्यवहित आमन्त्रित पद है ही, सो अनुदात्त का निषेध होने से षाष्ठिक *आमन्त्रितस्य च* (६।१।१९२) से आमन्त्रित पद आद्युदात्त हो गया। 'भो' आमन्त्रित है उस को *आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत्* (८।१।७२) से अविद्यमानवद्भाव प्राप्त होने पर एकान्तरितत्व नहीं रहता अतः यहाँ भो के अविद्यमानवत्व का *नामन्त्रिते समानाधिकरणे* (८।१।७३) से निषेध जानना चाहिए ॥

अन्तिक का अर्थ है, [1]समीप, सो अनन्तिक का अर्थ होगा जो न दूर

---

१. महाभाष्य में 'अनन्तिक' में विरुद्ध अर्थ में नञ् मानकर दूर अर्थ करके एकश्रुति की भी प्राप्ति दिखाकर उस एकश्रुति का भी इस सूत्र से प्रतिषेध दिखाया है। इस पक्ष में *दूराद्धूते च* (८।२।८४) से आमन्त्रित को प्लुत होगा ही। हमने

न समीप। अनन्तिक से यहाँ समीप अर्थ से भिन्न दूर अर्थ अभिप्रेत नहीं है यदि 'दूर' अर्थ ही अभिप्रेत हो तो सूत्र में स्पष्ट 'दूरे' कहते अतः यहाँ *नञिवयुक्तम्०* (परि० ६५) परिभाषा के नियम से जो 'न दूर न समीप' यही अर्थ लेना है। इस प्रकार अनन्तिक (न दूर न समीप) अर्थ में अनुदात्त निषेध करने से दूर अर्थ में विधीयमान जो कार्य वे अपने क्षेत्र में यथाविहित होते हैं। यथा—*एकश्रुति दूरात् सम्बुद्धौ* (१।२।३३) से विहित एकश्रुति एवं *दूराद्धूते च* (८।२।८४) से विहित प्लुत। इनका भी प्रतिषेध न हो यही यहाँ 'अनन्तिके' ग्रहण का प्रयोजन है। उदाहरण में 'भोः' के रु के र् को *भोभगोअघो०* (८।३।१७) से य् तथा *लोपः शाकल्यस्य* (८।३।१९) से उस य् का लोप होकर 'भो' बना है॥ यहाँ *आमन्त्रितं पूर्वम०* (८।१।७२) से 'भोः' को अविद्यमानवत्ता प्राप्त थी, किन्तु *नामन्त्रिते समानाधिकरणे०* (८।१।७३) से अविद्यमानवत्ता का प्रतिषेध हो जाता है, सो विद्यमानवत्ता ही मानी जाती है। अविद्यमानवत् होने से एकपदान्तरता न मिलती॥

यद्धितुपरं छन्दसि ॥८।१।५६॥

यद्धितुपरम् १।१॥ छन्दसि ७।१॥ *स०*—यत् च हिश्च तुश्च यद्धितवः, इतरेतरद्वन्द्वः। यद्धितवः परे यस्मात् तत् यद्धितुपरम्, बहुव्रीहिः॥ *अनु०*—तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य॥ *अर्थः*—यत्परं हिपरं तुपरं च तिङन्तं छन्दसि विषये नानुदात्तं भवति॥ *उदा०*—यत्परम्—गवां गोत्रमुदसृजो यदङ्गिरः (ऋ० २।२३।१८)। हिपरम्—इन्दवो वामुशन्ति हि (ऋ० १।२।४)। तुपरम्—आख्यास्यामि तु ते॥

भाषार्थः—[*यद्धितुपरम्*] यत्परक, हिपरक तथा तुपरक तिङ् को [*छन्दसि*] वेद विषय में अनुदात्त नहीं होता॥ यत् परक तिङन्त को *निपातैर्यद्य०* (८।१।३०) से तथा हि परक को *हि च* (८।१।३४) से एवं तुपरक को *तुपश्यपश्यताहैः०* (८।१।३९) से निघात प्रतिषेध सिद्ध ही था, पुनः यह सूत्र नियमार्थ है कि—'छन्द में पर के योग में भी यदि प्रतिषेध हो तो इन्हीं के पर के योग में हो, अन्यों के नहीं'। उदाहरणों में तिङन्त

सादृश्य अर्थ में नञ् का अर्थ करके 'न दूर न समीप' यह अर्थ अनन्तिक का किया है। ये दोनों ही पक्ष भाष्य में होने से प्रमाण हैं। प्रथमावृत्ति से पृथक् विषय होने से यहाँ इतना ही लिखना पर्याप्त है॥

से परे यत्, हि, तु हैं ही ॥ उदसृजः यह उत् पूर्वक सृज (तुदा०) धा: का लङ् सिप् में बना रूप है, अतः पूर्ववत् इसका 'अट्' उदात्त है यत् परे रहते सन्धि में *हशि च* (६।१।११०) *आद् गुणः* (६।१।८४ लगकर 'उदसृजो' बना है ॥ वश कान्तौ (अदा०) से लट् बहुवचन उशन्ति[1] बना है। *ग्रहिज्यावयि०* (६।१।१६) से व् को सम्प्रसारण तथ शप् का लुक् २।४।७२ से हुआ है। इस प्रकार अन्ति का 'अ' प्रत्यय स्व से उदात्त है, सो मध्योदात्त पद रहा। आख्यास्यामि आङ्पूर्वक ख्य प्रकथने से लृट् में बना है, सो पूर्ववत् स्य उदात्त है। तिङन्त के उदात्त होने पर उपसर्ग *तिङि चोदात्तवति* (८।१।७१) से अनुदात्त हो जाता है ॥

चनचिदिवगोत्रादितद्धिताम्रेडितेष्वगतेः ॥८।१।५७॥

चन''डितेषु ७।३॥ अगतेः ५।१॥ *स०*—गोत्र आदिर्येषां ते गोत्रादयः, बहुव्रीहिः। चनश्च चित् च इवश्च गोत्रादयश्च तद्धिताश्च आम्रेडितञ्च चनचि''डितानि तेषु''इतरेतरद्वन्द्वः। न गतिरगतिस्तस्मात्'' नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात् पदस्य ॥ *अर्थः*—चन, चित्, इव, गोत्रादि, तद्धित, आम्रेडित इत्येते परतोऽगतेरुत्तरं तिङन्तं नानुदात्तं भवति ॥ *उदा०*—देवदत्तः पचति चन चित्—देवदत्त पचति चित्। इव—देवदत्तः पचति इव। गोत्रादि—देवदत्तः पचति गोत्रम्, देवदत्तः पचति ब्रुवम्, देवदत्तः पचति प्रवचनम्। तद्धित—देवदत्तः पचतिकल्पम्, पचतिरूपम्। आम्रेडित—देवदत्तः पचति पचति ॥

भाषार्थः—[चन''डितेषु] चन, चित्, इव तथा गोत्रादि गण पठित शब्द तद्धित प्रत्यय एवं आम्रेडित संज्ञक शब्दों के परे रहते [*अगतेः*] गतिसंज्ञक से भिन्न किसी पद से उत्तर तिङन्त को अनुदात्त नहीं होता। पचतिकल्पम् में पचति तिङन्त से *ईषदसमाप्तौ०* (५।३।६७) से कल्पप् तथा पचतिरूपम् में *प्रशंसायां०* (५।३।६६) से रूपप् तद्धित प्रत्यय हुआ है। पित् होने से ये प्रत्यय अनुदात्त हैं, पश्चात् एकश्रुति *स्वरितात्०*

---

१. संहितापाठ के स्वरनियम से यहाँ उशन्ति के ति को स्वरित न दिखाकर अनुदात्त दिखाया है।

(१।२।३६) से हो ही जायेगी। पचति की स्वरसिद्धि पूर्ववत् है। देवदत्तः पचति पचति यहाँ *नित्यवीप्सयोः* (८।१।४) से पचति को द्वित्व हुआ है, सो पर वाला पचति आम्रेडितसंज्ञक है, उसके परे रहते पूर्व वाले पचति के निघात का निषेध हो गया॥

यहाँ से '*अगतेः*' की अनुवृत्ति ८।१।५८ तक जायेगी॥

चादिषु च ॥८।१।५८॥

चादिषु ७।३॥ च अ०॥ *स०*—च आदिर्येषां ते चादयस्तेषु… बहुव्रीहिः॥ *अनु०*—अगतेः, तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य॥ *अर्थः*—चादिषु च परतोऽगतेरुत्तरं तिङन्तं नानुदात्तं भवति॥ चादयो *न चवाहाहैवयुक्ते* (८।१।२४) इत्यत्र ये निर्दिष्टास्त एव गृह्यन्तेऽत्र॥ *उदा०*—चशब्दे–देवदत्तः पचति च खादति च। वा–देवदत्तः पचति वा खादति वा। ह–देवदत्तः पचति ह खादति ह। अह–देवदत्तः पचत्यह खादत्यह। एव–देवदत्तः पचत्येव खादत्येव॥

भाषार्थः—[*चादिषु*] चादियों के परे रहते [*च*] भी गतिभिन्न पद से उत्तर तिङन्त को अनुदात्त नहीं होता॥ चादि गणपाठ में पठित शब्द भी हैं, तथा '*न चवाहाहैवयुक्ते*' सूत्र में निर्दिष्ट च, वा आदि शब्द भी 'चादि' से कथित हैं, सो यहाँ समीपस्थ होने से सूत्र निर्दिष्ट च वा आदि शब्द ही 'चादि' से लेना है, चादि (१।४।५७)गणपठित शब्द नहीं, ऐसा समझें॥

यहाँ चादि परे रहते अगति से उत्तर तिङन्त दोनों पदों को निघात का प्रतिषेध होता है। *चवायोगे प्रथमा* (८।१।५९) सूत्र का विषय च वा के पूर्व प्रयोग और गति से उत्तर का विषय होने से उसकी यहाँ प्रवृत्ति नहीं होती॥

चवायोगे प्रथमा ॥८।१।५९॥

चवायोगे ७।१॥ प्रथमा १।१॥ *स०*—चश्च वाश्च चवौ, ताभ्यां योगः चवायोगस्तस्मिन्… द्वन्द्वगर्भतृतीयातत्पुरुषः॥ *अनु०*—तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य॥ *अर्थः*—च, वा इत्येताभ्यां योगे प्रथमा तिङ्विभक्तिर्नानुदात्ता भवति॥ *उदा०*—गर्दभाँश्च कालयति, वीणां च वादयति। गर्दभान् वा कालयति, वीणां वा वादयति॥

भाषार्थः—[*चवायोगे*] च तथा वा के योग में [*प्रथमा*] प्र
तिङन्त को अनुदात्त नहीं होता ॥ उदाहरण वाक्यों में दो तिङन्त श
हैं, उनमें से प्रथम तिङन्त को निघात का निषेध प्रकृत सूत्र से ह
हैं। द्वितीय तिङन्त को *तिङ्ङतिङः* (८।१।२८) से प्राप्त निघात
होगा। पूर्ववत् (सूत्र ८।१।४२-४८) भोजयति स्तनयति के सम
कालयति का स्वर जानें ॥

यहाँ से '*प्रथमा*' की अनुवृत्ति ८।१।६५ तक जायेगी ॥

हेति क्षियायाम् ॥८।१।६०॥

ह अ० ॥ इति अ० ॥ क्षियायाम् ७।१॥ *अनु०*—प्रथमा, तिङ्,
अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ *अर्थः*—ह इत्यनेन युक्ता प्रथ
तिङ्विभक्तिर्नानुदात्ता भवति, क्षियायां गम्यमानायाम् ॥ क्षिया नि
सा चेहाऽचारव्यतिक्रमरूपा ॥ *उदा०*—स्वयं ह रथेन याति
उपाध्यायं पदातिं गमयति । स्वयं हौदनं भुङ्क्ते ३, उपाध्यायं सक्तू
पाययति ॥

भाषार्थः—[*ह*] ह [*इति*] इससे युक्त प्रथम तिङन्त (विभक्ति)
[*क्षियायाम्*] क्षिया गम्यमान होने पर अनुदात्त नहीं होता ॥ पूर्व
वाक्यस्थ प्रथम तिङन्त को अननुदात्त होगा, सो याति धातु स्वर
आद्युदात्त है, एवं भुङ्क्ते का स्वर पूर्व दिखाया जा चुका है ॥ या
भुङ्क्ते में *क्षियाशीःप्रैषेषु तिङाकाङ्क्षम्* (८।२।१०४) से तिङन्त को स्वरि
प्लुत होता है। याति में 'ति' को स्वरित होने पर धातु स्वर की दृष्टि
असिद्ध होने से 'या' उदात्त रहता है। परन्तु यहाँ 'याति' और 'भुङ्क्ते
अतिङन्त से उत्तर होने के कारण (८।१।२८) 'या' 'भु' अनुदात्त होंगे
सर्वानुदात्तत्व की प्राप्ति में अन्त्य को स्वरितत्व का विधान किया है।

क्षिया, शिष्टाचार के व्यतिक्रम को कहते हैं, सो उदाहरणों में स्व
रथ से जाना एवं आचार्य को पैदल ले चलना, इसी प्रकार स्वयं उत्त
पदार्थ चावल खाना तथा आचार्य जी को सक्तु पिलाना, यह स्प
शिष्टाचार का व्यतिक्रम है ॥

यहाँ से '*क्षियायाम्*' की अनुवृत्ति ८।१।६१ तक जायेगी ॥

अहेति विनियोगे च ॥८।१।६१॥

अह अ० ॥ इति अ० ॥ विनियोगे ७।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—क्षियायाम्, प्रथमा, तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ *अर्थः*—अह इत्यनेन युक्ता प्रथमा तिङ्विभक्तिर्नानुदात्ता भवति विनियोगे गम्यमाने चकारात् क्षियायां च गम्यमानायाम् ॥ *उदा०*—विनियोगे—त्वमह ग्रामं गच्छ ३, त्वमहारण्यं गच्छ । क्षियायाम्—स्वयमह रथेन याति ३ उपाध्यायं पदातिं गमयति । स्वयमहौदनं भुङ्क्ते ३ उपाध्यायं सक्तून् पाययति ॥

भाषार्थः—[*अह*] अह [*इति*] इससे युक्त (वाक्यस्थ) प्रथम तिङन्त को [*विनियोगे*] विनियोग [*च*] तथा चकार से क्षिया गम्यमान होने पर अनुदात्त नहीं होता ॥ अनेक प्रयोजन के लिये प्रैष देने को विनियोग कहते हैं, उदाहरण में 'तुम ग्राम को जाओ, तुम अरण्य को जाओ', यहाँ अनेक प्रयोजन के लिये प्रैष है ॥ 'गच्छ' (लोट् मध्यम पुरुष) धातु स्वर से आद्युदात्त है । लोट् में 'हि' का लुक् आदि पूर्ववत् (६।४।१०५) जानें । प्लुतत्व भी यहाँ *क्षियाशीः०* (८।२।१०४) सूत्र से ही प्रैष मानकर हुआ है, एवं याति ३ आदि में पूर्ववत् क्षियानिमित्तक प्लुत है ही ॥

चाहलोप एवेत्यवधारणम् ॥८।१।६२॥

चाहलोपे ७।१॥ एव अ० ॥ इति अ० ॥ अवधारणम् १।१॥ *स०*—चश्च अहश्च चाहौ, तयोर्लोपः चाहलोपस्तस्मिन्... द्वन्द्वगर्भषष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—प्रथमा, तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ *अर्थः*—च, अह इत्येतयोर्लोपे च प्रथमा तिङ्विभक्तिर्नानुदात्ता भवति, एवशब्दश्चेदवधारणार्थं प्रयुज्यते ॥ यत्र गम्यते चार्थो न च प्रयुज्यते तत्रानयोर्लोप इति ज्ञेयम् ॥ *उदा०*—चलोपे-देवदत्त एव ग्रामं गच्छतु, देवदत्त एवारण्यं गच्छतु । अहलोपे-देवदत्त एव ग्रामं गच्छतु, यज्ञदत्त एवारण्यं गच्छतु ॥

भाषार्थः—[*चाहलोपे*] च तथा अह शब्द का लोप होने पर प्रथम (वाक्यस्थ) तिङन्त को अनुदात्त नहीं होता, यदि [*एव*] एव [*इति*] यह शब्द वाक्य में [*अवधारणम्*] अवधारण अर्थ में प्रयुक्त किया गया हो तो ॥ 'चाहलोपे' कहने से जहाँ 'च' तथा 'अह' का अर्थ तो हो, किन्तु उसका प्रयोग न किया गया हो, वहाँ 'च अह' का लोप हुआ है, ऐसा

माना जायेगा ॥ च समुच्चय अर्थ में होता है, तथा अह केवल अर्थ में, सो उसी प्रकार उदाहरणों का अर्थ 'च' अह के प्रयोग के बिना ही यहाँ है। 'देवदत्त एव···' देवदत्त ही ग्राम को जावे एवं देवदत्त ही जङ्गल को' यहाँ समुच्चय तथा 'देवदत्त ही केवल ग्राम को जावे, एवं यज्ञदत्त ही केवल अरण्य को, यहाँ लुप्त अह का केवलार्थ है। यहाँ सर्वत्र एव शब्द अवधारण (निश्चय) अर्थ में प्रयुक्त है ॥ प्रथम 'गच्छतु' पद धातु स्वर से आद्युदात्त है, पचति के समान इसका स्वर जान लें। द्वितीय गच्छतु पद यथाप्राप्त (८।१।२८) अनुदात्त होगा ही ॥

चादिलोपे विभाषा ॥८।१।६३॥

चादिलोपे ७।१॥ विभाषा १।१॥ स०—च आदिर्येषां ते चादयः, चादीनां लोपः चादिलोपस्तस्मिन्···द्वन्द्वगर्भषष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*— प्रथमा, तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ *अर्थः*— चादिलोपे प्रथमा तिङ्विभक्तिर्विभाषा नानुदात्ता भवति ॥ *उदा०*— चलोपे–शुक्ला व्रीहयो भवन्ति, (पक्षे–भवन्ति), श्वेता गा आज्याय दुहन्ति। वालोपे—व्रीहिभिर्यजेत (पक्षे–यजेत), यवैर्यजेत। एवं शेषेष्वपि यथाप्राप्तमुदाहर्त्तव्यम् ॥

भाषार्थः—[*चादिलोपे*] चादियों के लोप होने पर प्रथम तिङन्त को [*विभाषा*] विकल्प करके अनुदात्त नहीं होता ॥ चादि से यहाँ *न चवाहाहैवयुक्ते* (८।१।२४) सूत्र में निर्दिष्ट च, वा, ह आदि शब्द गृहीत हैं, गणपठित चादि नहीं। लोप का तात्पर्य पूर्ववत् ही 'जहाँ चादियों का अर्थ हो पर प्रयोग न हो' यही लेना है ॥ ह, अह आदि के लोप होने पर प्रथम तिङ् को विकल्प कहने से अनुदात्त वाले उदाहरण भी प्रयोग मिलने पर साधु समझने चाहियें ॥ भवन्ति में एक पक्ष में अदुपदेश से परे 'अन्ति' को निघात होने से धातुस्वर से आद्युदात्त रहेगा, तथा पक्ष में अनुदात्त होगा ही। यजेत यहाँ 'त' को लसार्वधातुकानुदात्तत्व करने से धातुस्वर से यजेत आद्युदात्त है ॥

यहाँ से '*विभाषा*' की अनुवृत्ति ८।१।६५ तक जायेगी ॥

वैवावेति च च्छन्दसि ॥८।१।६४॥

वैवाव लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ इति अ० ॥ च अ० ॥ छन्दसि

७।१।। स०—वैश्च वावश्च वैवाव, द्वन्द्वः ।। अनु०—विभाषा, प्रथमा, तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ।। अर्थः—वै, वाव इत्येताभ्यां युक्ता प्रथमा तिङ्विभक्तिर्विकल्पेन नानुदात्ता भवति छन्दसि विषये ।। उदा०—अहर्वै देवानामासी॑त् रात्रीरसुराणामासीत्। पक्षे- अहर्वै देवानामासीत्, रात्रीरसुराणामासीत् । बृहस्पतिर्वै देवानां पुरोहित आसी॑त् (पक्षे-आसीत्) शण्डामर्कावसुराणाम्। वाव-अयं वाव ह आसी॑त् नेतर आसीत्। पक्षे-अयं वाव हस्त आसीत्, नेतर आसीत्।

भाषार्थः—[*वैवाव*] वै तथा वाव [*इति*] इनसे युक्त (वाक्यस्थ) प्रथम तिङन्त को [*च*] भी विकल्प से [*छन्दसि*] वेद विषय में अनुदात्त नहीं होता ।। प्रथम आसीत् का 'आट्' उदात्त रहेगा, तथा पक्ष में अनुदात्त होगा ही । आसीत् की सिद्धि सूत्र ७।३।९६ में देखें ।।

यहाँ से 'छन्दसि' की अनुवृत्ति ८।१।६५ तक जायेगी ।।

एकान्याभ्यां समर्थाभ्याम् ।।८।१।६५।।

एकान्याभ्याम् ३।२।। समर्थाभ्याम् ३।२।। स०—एकश्च अन्यश्च एकान्यौ ताभ्यां...इतरेतरद्वन्द्वः। समौ तुल्यावर्थौ ययोस्तौ समर्थौ ताभ्यां...बहुव्रीहिः ।। अनु०—छन्दसि, विभाषा, प्रथमा, तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ।। अर्थः—एक, अन्य इत्येताभ्यां समर्थाभ्यां युक्ता प्रथमा तिङ्विभक्तिर्विभाषा नानुदात्ता भवति छन्दसि विषये ।। उदा०—प्रजामेका जिन्वति ऊर्जमेका रक्षति। पक्षे—प्रजामेका जिन्वति ऊर्जमेका रक्षति। अन्य—तयो॑रन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति (पक्षे—स्वाद्वत्ति), अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति (ऋ० १।१६४।२०) ।।

भाषार्थः—[*समर्थाभ्याम्*] समान अर्थ वाले [*एकान्याभ्याम्*] एक तथा अन्य शब्दों से युक्त प्रथम तिङन्त को विकल्प से छन्द विषय में अनुदात्त नहीं होता ।। उदाहरणों में 'एक' तथा 'अन्य' दोनों समान= तुल्य अर्थ वाले हैं ।। जिवि (प्रीणनार्थक) धातु को इदित् होने से नुम् (७।१।५८) होकर लट् में शप् तिप् आकर जिन्वति बना है, सो पचति के समान धातुस्वर से जिन्वति पक्ष में आद्युदात्त है। अद् धातु से अत्ति

यह भी धातु स्वर से आद्युदात्त है। स्वादु + अत्ति स्वादूवत्ति। पक्ष में अनुदात्तत्व होगा ही ॥

यद्वृत्तान्नित्यम् ॥८।१।६६॥

यद्वृत्तात् ५।१॥ नित्यम् १।१॥ *स०*—यदो वृत्तं यद्वृत्तं तस्मात्... षष्ठीतत्पुरुषः ॥ वर्त्ततेऽस्मिन्निति वृत्तम् ॥ *किंवृत्तञ्च०* (८।१।४८) इत्यत्र प्रदर्शिता किंवृत्तशब्दस्य या व्युत्पत्तिस्तद्वदत्रापि ज्ञेया ॥ *अनु०*—तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ *अर्थः*—यद्वृत्तादुत्तरं तिङन्तं नित्यं नानुदात्तं भवति ॥ यद्वृत्तग्रहणेनात्र तद्विभक्त्यन्तं गृह्यते ॥ *उदा०*—यो भुङ्क्ते, यं भोजयति, येन भुङ्क्ते, यस्मै ददाति, यत्कामास्ते जुहुमः (ऋ० १०।१२१।१०) ॥

भाषार्थः—[*यद्वृत्तात्*] यद्वृत्त शब्द से उत्तर तिङन्त को [*नित्यम्*] नित्य ही अनुदात्त नहीं होता ॥ यद्वृत्त से यहाँ यद् शब्द से उत्पन्न जो विभक्तियाँ तद्विभक्त्यन्त शब्द लिये गये हैं ॥ यद्वृत्त की व्युत्पत्ति ८।१।४८ सूत्र में दी हुई किंवृत्त की व्युत्पत्ति के समान जानें। स्वर सिद्धियाँ भी उसी सूत्र में देखें। जुहुमः हु धातु के लट् मस् में बना है, सो प्रत्ययस्वर (३।१।३) से अन्तोदात्त यह शब्द है ॥

पूजनात् पूजितमनुदात्तम् ॥८।१।६७॥

पूजनात् ५।१॥ पूजितम् १।१॥ अनुदात्तम् १।१॥ *अनु०*—अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ *अर्थः*—पूजनात् परं पूजितमनुदात्तं भवति ॥ *उदा०*—काष्ठाध्यापकः, काष्ठाभिरूपकः, दारुणाध्यापकः, दारुणाभिरूपकः ॥

भाषार्थः—[*पूजनात्*] पूजनवाची शब्दों से उत्तर [*पूजितम्*] पूजितवाची शब्दों को [*अनुदात्तम्*] अनुदात्त होता है ॥ दारुणम् अध्यापयतीति दारुणाध्यापकः, काष्ठाभिरूपकः यहाँ दारुण काष्ठ आदि शब्द क्रियाविशेषण द्वितीयान्त हैं, सो यहाँ वैयधिकरण्य होने से समास नहीं हुआ है, किन्तु *मलोपश्च* (*वा०* ८।१।६७) इस वार्त्तिक से दारुणम् काष्ठम् के मकार का लोप हुआ है[1], पश्चात् सवर्ण दीर्घत्व हो गया ॥

---

१. उपपद समास यहाँ मानने पर कृदुत्तरपद स्वर का यह बाधक होगा, ऐसा समझना चाहिए।

ाष्ठ शब्द अद्भुतवाची हैं, अतः पूजनवचनता है। अध्यापक अभि-
ऱपक शब्द पूजितवाची हैं ही। काष्ठाध्यापकः अर्थात् काष्ठा[1] =
ीमा = अन्त (= किसी विषय की अन्तिम सीमा तक) अर्थात् आश्चर्य-
नक पढ़ानेवाला॥ दारुण शब्द क्लिष्टवाची है, अतः अत्यन्त क्लिष्ट ग्रन्थ
ो पढ़ाने वाला ऐसा अर्थ होगा। अध्यापक, अभिरूपक शब्द ण्वुलन्त
ैं, अतः लित् स्वर की प्राप्ति थी, अनुदात्त कह दिया॥

यहाँ से '*पूजनात् पूजितम्*' की अनुवृत्ति ८।१।६८ तक जायेगी॥

सगतिरपि तिङ्॥८।१।६८॥

सगतिः १।१॥ अपि अ०॥ तिङ् १।१॥ *स०*—गतिना सह सगतिः, बहुव्रीहिः। *तेन सहेति०* (२।२।२८) इत्यनेन समासः॥ *अनु०*—पूजनात् पूजितम्, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य॥ *अर्थः*—पूजनात् परं सगतिरगतिरपि पूजितं तिङन्तमनुदात्तं भवति॥ *उदा०*—अगतिः—यत्काष्ठं पचति, यद्दारुणं पचति। सगतिः—यत्काष्ठं प्रपचति। यद्दारुणं प्रपचति॥ सगतिग्रहणात् गतिरपि निहन्यते।

भाषार्थः—पूजनवाचियों से उत्तर [*सगतिः*] गति सहित [*तिङ्*] तिङन्त को तथा (अपि ग्रहण से) गतिभिन्न तिङन्त को [*अपि*] भी अनुदात्त होता है॥ *तिङ्ङतिङः* (८।१।२८) से निघात प्राप्त ही था, पुनः *निपातैर्यद्यदि०* (८।१।३०) से निघात प्रतिषेध प्राप्त होने पर इस सूत्र का विधान है॥ भाष्यानुसार पूर्वोक्त *मलोपश्च* वार्त्तिक अतिङ् परे रहते ही प्रवृत्त होता है, अतः 'यत्काष्ठं पचति' आदि में मकार लोप नहीं हुआ॥ सगति ग्रहण से गतिसहित निघात होता है॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ८।१।६९ तक जायेगी॥

कुत्सने च सुप्यगोत्रादौ॥८।१।६९॥

कुत्सने ७।१॥ च अ०॥ सुपि ७।१॥ अगोत्रादौ ७।१॥ *स०*—गोत्र आदिर्यस्य स गोत्रादिः, बहुव्रीहिः। न गोत्रादिरगोत्रादिस्तस्मिन्'''नञ्-तत्पुरुषः॥ *अनु०*—सगतिरपि तिङ्, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदस्य॥

---

१. सूत्र वा गण में नपुंसकलिङ्ग काष्ठ शब्द भी काष्ठा = सीमा का वाचक है ऐसा समझना चाहिए।

पदादत्र निवृत्तम् ॥ *अर्थः*—गोत्रादिवर्जिते कुत्सने च सुबन्ते परतः सगतिरगतिरपि तिङन्तमनुदात्तं भवति ॥ *उदा०*—पचति पूति, प्रपचति पूति । पचति मिथ्या, प्रपचति मिथ्या ॥

भाषार्थः—[*अगोत्रादौ*] गोत्रादि वर्जित (गणपठित शब्दों को छोड़कर) [*कुत्सने*] कुत्सन = निन्दावाची [*सुपि*] सुबन्त शब्दों के परे रहते [*च*] भी सगतिक एवं अगतिक (दोनों) तिङन्तों को अनुदात्त होता है ॥ यहाँ से 'पदात्' अधिकार की अनुवृत्ति समाप्त हो गई है, अतः उदाहरणों में पद से उत्तर न होने से अगति में *तिङ्ङतिङः* से निघात की प्राप्ति ही नहीं थी और सगति में प्र को मानकर तिङ् मात्र को निघात प्राप्त था, विधान कर दिया ॥ पूति शब्द के 'सु' का *स्वमोर्नपुं०* (७।१।२३) से लुक् हुआ है । पचति पूति अर्थात् खराब पकाती है, सो यहाँ उसकी क्रिया की कुत्सा = निन्दा हो रही है ॥

गतिर्गतौ ॥८।१।७०॥

गतिः १।१॥ गतौ ७।१॥ *अनु०*—अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदस्य ॥ *अर्थः*—गतौ परतो गतिरनुदात्तो भवति ॥ *उदा०*—अभ्युद्धरति, समुदानयति, अभिसम्पर्याहरति ॥

भाषार्थः— [*गतौ*] गति संज्ञक के परे रहते [*गतिः*] गतिसंज्ञक को अनुदात्त होता है ॥ 'अभि' उपसर्ग को *उपसर्गाश्चाभिवर्जम्* सूत्र में निषेध करने से *फिषोऽन्त उदात्तः* (*फिट्०* १) से अन्तोदात्त प्राप्त था, उत् गतिसंज्ञक के परे रहते अनुदात्त हो गया, पश्चात् यणादेश होने के कारण अभि का 'अ' ही अनुदात्त रहा, एवं 'उत्' का 'उ' *उपसर्गाश्चाभिवर्जम्* (*फिट्०* ८०) से उदात्त हो गया । समुदानयति में भी *उपसर्गाश्चाभिवर्जम्* से ही सम् के स को उदात्त प्राप्त था, आङ् गतिसंज्ञक के परे रहते सम् उत् दोनों को अनुदात्त हो गया, एवं आङ् पूर्ववत् उदात्त रहा । इसी प्रकार अभिसम्पर्याहरति में पूर्ववत् अभि को अन्तोदात्त प्राप्त था, आङ् परे रहते अभि, सम्, परि तीनों को अनुदात्त हो गया ॥

यहाँ से '*गतिः*' की अनुवृत्ति ८।१।७१ तक जायेगी ॥

तिङि चोदात्तवति ॥८।१।७१॥

तिङि ७।१॥ च अ० ॥ उदात्तवति ७।१॥ उदात्तोऽस्मिन्नस्तीति=

उदात्तवान् तस्मिन्''(मतुप्प्रत्ययः) ॥ अनु०—गतिः, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदस्य ॥ अर्थः—उदात्तवति तिङन्ते च परतो गतिरनुदात्तो भवति ॥ उदा०—यत् प्रपचति, यत् प्रकरोति ॥

भाषार्थः—[*उदात्तवति*] उदात्तवान् [*तिङि*] तिङन्त के परे रहते [च] भी गतिसंज्ञक को निघात होता है ॥ उदाहरण में पचति, करोति तिङन्त को *निपातैर्यद्यदि*० (८।१।३०) अथवा *यद्वृत्तान्नित्यम्* (८।१।६६) से निघात का प्रतिषेध हो जाने से उदात्तवान् हैं, अतः इनके परे रहते 'प्र' गतिसंज्ञक को अनुदात्त हो गया है, इस प्रकार *उपसर्गाश्चा*० (*फिट्*० ८०) से 'प्र' उदात्त नहीं हुआ। पचति करोति की स्वर सिद्धि परि० ८।१।३० में देखें ॥

आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत् ॥८।१।७२॥

आमन्त्रितम् १।१॥ पूर्वम् १।१॥ अविद्यमानवत् अ० ॥ *स*०—न विद्यमानमविद्यमानम्, नञ्तत्पुरुषः। अविद्यमानस्येव अविद्यमानवत् ॥ *अनु*०—पदस्य ॥ *अर्थः*—आमन्त्रितं पदं पूर्वमविद्यमानवद् भवति, तस्मिन् सति यत् कार्यं प्राप्नोति तन्न भवति, असति यत्तद्भवतीत्यर्थः ॥ *उदा*०—देवदत्त यज्ञदत्त। देवदत्त पचसि। देवदत्त तव ग्रामः स्वम्। देवदत्त मम ग्रामः स्वम्। यावद् देवदत्त पचसि। देवदत्त जातु पचसि। आहो देवदत्त पचसि, उताहो देवदत्त पचसि। आम् भोः पचसि देवदत्त ॥

भाषार्थः—किसी पद से (जिसे निघातादि कार्य कहे हों) [*पूर्वम्*] पूर्व [*आमन्त्रितम्*] आमन्त्रितसंज्ञक पद हो तो वह आमन्त्रित पद [*अविद्यमानवत्*] अविद्यमान (न होना) के समान माना जावे ॥ अर्थात् उस आमन्त्रित को मानकर जो कार्य प्राप्त हो रहे हों, वे कार्य उसके अविद्यमानवत् होने से नहीं होते, एवं जो कार्य उसके न रहने पर प्राप्त होते हैं वे हो जाते हैं ॥

देवदत्त यज्ञदत्त यहाँ दोनों ही पद आमन्त्रितसंज्ञक (२।३।४८) हैं, सो *आमन्त्रितस्य च* (८।१।१९) से देवदत्त पद से उत्तर 'यज्ञदत्त' को निघात प्राप्त था, किन्तु पूर्व वाला आमन्त्रित पद देवदत्त, यज्ञदत्त की अपेक्षा से अविद्यमानवत् हो गया, तो पद से उत्तर न मिलने से

'यज्ञदत्त' को निघात नहीं हुआ, किन्तु षाष्ठिक *आमन्त्रितस्य च* से आद्युदात्त पद रहा। इसी प्रकार देवदत्त पचसि में देवदत्त के अविद्यमानवत् होने से *तिङ्ङतिङः* (८।१।२८) से पचसि को (पद से उत्तर न होने से) निघात नहीं हुआ। 'देवदत्त तव ग्रामः स्वम्' आदि में तव मम को *तेमयावेक०* (८।१।२२) से पूर्वोक्तानुसार ते, मे आदेश नहीं हुये। 'यावद् देवदत्त पचसि' यहाँ देवदत्त के अविद्यमानवत् होने से यावत् से अनन्तर (अव्यवहित) तिङन्त है, तो *पूजायां नानन्तरम्* (८।१।३७) से पचसि को अनुदात्त नहीं हुआ। 'देवदत्त जातु पचसि' यहाँ भी देवदत्त के अविद्यमानवत् होने से 'जातु' अविद्यमानपूर्व है सो *जात्वपूर्वम्* (८।१।४८) से पचसि को निघात निषेध हो गया। इसी प्रकार 'आहो देवदत्त पचसि' आदि में देवदत्त को अविद्यमानवत् होकर *आहो उताहो०* (८।१।४९) से पचसि को अनुदात्त हो गया है। 'आम् भोः पचसि देवदत्त' यहाँ 'भोः' आमन्त्रित को अविद्यमानवत् होने से आम् से उत्तर एकपदान्तर आमन्त्रित 'देवदत्त' हो जाता है, सो उसे *आम एकान्तरमा०* (८।१।५५) से अनुदात्त हो जाता है। 'भोः' को अविद्यमानवत् न मानने से यहाँ 'भोः पचसि' इन दो पदों के कारण एकपदान्तरता न रह पाती॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ८।१।७४ तक जायेगी॥

नामन्त्रिते समानाधिकरणे ॥८।१।७३॥

न अ० ॥ आमन्त्रिते ७।१॥ समानाधिकरणे ७।१॥ *स०*—समानम् अधिकरणं यस्य तत् समानाधिकरणं तस्मिन्''बहुव्रीहिः॥ *अनु०*—आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत्, पदस्य॥ *अर्थः*—समानाधिकरण आमन्त्रितान्ते परतः पूर्वमामन्त्रितान्तं नाविद्यमानवद् भवति॥ पूर्वेण प्राप्ते प्रतिषिध्यते॥ *उदा०*—[1]अग्ने गृहपते (मै०सं० १।४।२)। मा[1]णवक जटिलकाध्यापक॥

भाषार्थः—[*समानाधिकरणे*] समान अधिकरण वाला [*आमन्त्रिते*]

१. हे गार्हपत अग्ने। हे जटावान् अध्यापक माणवक। यहां गार्हपत अग्नि सामान्य का, और जटिलकाध्यापक माणवक सामान्य का विशेषण है। उदाहरणों में गार्हपते और जटिलकाध्यापक में पूर्व स्वरितानुसार एकश्रुत्यभाव का निर्देश सुकरता के लिए किया है।

आमन्त्रित पद परे हो तो उससे पूर्व वाला आमन्त्रित पद अविद्यमानवद् [न] न हो, किन्तु विद्यमानवत् ही होता है ॥ अग्ने तथा गृहपते पद आमन्त्रितसंज्ञक एवं समानाधिकरण वाले भी हैं, अतः 'अग्ने' पद विद्यमानवत् ही रहा, सो 'गृहपते' को *आमन्त्रितस्य* च (८।१।१६) से निघात हो गया। इसी प्रकार द्वितीय उदाहरण में जानें ॥

यहाँ से '*आमन्त्रिते समानाधिकरणे*' की अनुवृत्ति ८।१।७४ तक जायेगी।

सामान्यवचनं विभाषितं विशेषवचने ॥८।१।७४॥

सामान्यवचनम् १।१॥ विभाषितम् १।१॥ विशेषवचने ७।१॥ *स०*— सामान्यस्य वचनं सामान्यवचनम्, षष्ठीतत्पुरुषः। एवं विशेषवचन इत्यत्रापि ज्ञेयम् ॥ *अनु०*—आमन्त्रिते समानाधिकरणे, आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत्, पदस्य ॥ *अर्थः*—विशेषवचने समानाधिकरण आमन्त्रितान्ते परतः पूर्वं सामान्यवचनमामन्त्रितं विभाषितमविद्यमानवद् भवति ॥ उदा०—देवाः शरण्याः। पक्षे-देवाः शरण्याः, ब्राह्मणा वैयाकरणाः। पक्षे-ब्राह्मणा वैयाकरणाः ॥

भाषार्थः—[*विशेषवचने*] विशेषवाची समानाधिकरण आमन्त्रित परे रहते [*सामान्यवचनम्*] सामान्यवचन आमन्त्रित को [*विभाषितम्*] विकल्प से अविद्यमानवत् होता है ॥ उदाहरणों में पहले आमन्त्रित देव, एवं ब्राह्मण सामान्य रूप से सभी देवत्व एवं ब्राह्मणत्व गुण वालों को कहते हैं, अतः सामान्यवचन हैं, एवं शरण्य (शरण देने में जो साधु) देव तथा वैयाकरण (ब्राह्मण) विशेषवाची परे हैं, परस्पर ये शब्द समानाधिकरण हैं ही, सो विकल्प से पूर्व वाले सामान्यवचन आमन्त्रित देव एवं ब्राह्मण विद्यमानवत् हो गये। जिस पक्ष में ये विद्यमानवत् हुये, उस पक्ष में *आमन्त्रितस्य* च (८।१।१६) से शरण्य तथा वैयाकरण निघात हुये एवं अविद्यमानवत् हुये तो षाष्ठिक *आमन्त्रितस्य* च (६।१।१९२) से दोनों पदों को आद्युदात्त हो गया ॥

इति प्रथमः पादः

—:०:—

द्वितीय पादः

पूर्वत्रासिद्धम् ॥८।२।१॥

पूर्वत्र अ० ॥ असिद्धम् १।१॥ *स०*—न सिद्धमसिद्धम्, नञ्तत्पुरुषः ॥ *अर्थः*—अधिकारोऽयम्, आ अध्यायपरिसमाप्तेः। तत्र येयं सपादसप्ताध्याय्यनुक्रान्ता एतस्यामयं पादोनोऽध्यायोऽसिद्धो भवतीति वेदितव्यम्, सिद्धकार्यं न करोतीत्यर्थः। इत उत्तरं चोत्तरोत्तरो योगः पूर्वत्र पूर्वत्रासिद्धो भवति ॥ *उदा०*—अस्मा उद्धर। द्वा अत्र। द्वा आनय। असा आदित्यः। अमुष्मै, अमुष्मात्, अमुष्मिन् ॥ शुष्किका, शुष्कजङ्घा, क्षामिमान्, औजढत्, गुडलिण्मान् ॥

भाषार्थः—यह अधिकार सूत्र है, अध्याय की समाप्ति पर्यन्त जायेगा ॥ यहाँ से आगे अध्याय की समाप्ति पर्यन्त ३ पाद के सूत्र [*पूर्वत्र*] पूर्व पूर्व की दृष्टि में अर्थात् सवा ७ अध्याय में कहे सूत्रों की दृष्टि में [*असिद्धम्*] असिद्ध होते हैं, सिद्ध के समान कार्य नहीं करते यह तात्पर्य है। प्रतिसूत्र में अधिकार होने से यहाँ से आगे (इन तीन पादों में) भी उत्तर उत्तर के सूत्र उससे पूर्व पूर्व की दृष्टि में असिद्ध होते जाते हैं, ऐसा अर्थ भी इस सूत्र का जानना चाहिये ॥ अस्मा उद्धर, द्वा अत्र, द्वा आनय, असा आदित्यः यहाँ सर्वत्र अस्मै, द्वौ, असौ के एच् को *एचोऽयवायावः* (६।१।७५) से जो आय् आव् आदेश हुये थे, उनके य् व् का *लोपः शाकल्यस्य* (८।३।१९) से लोप हो जाने पर *आद् गुणः* (६।१।८४) से गुण एकादेश एवं असा आदित्यः में सवर्णदीर्घत्व नहीं होता, क्योंकि *लोपः शाकल्यस्य* इन तीन पादों में है, सो वह *आद् गुणः अकः सवर्णे०*' की दृष्टि में असिद्ध रहेगा, उन्हें इस सूत्र से विहित य् व् लोप नहीं दीखेगा, तो गुण एकादेश सवर्ण दीर्घत्व नहीं हो सकते। इसी प्रकार अमुष्मै आदि में *अदसोऽसे०* (८।२।८०) से द् को म् तथा दकार से उत्तर 'अ' को उत्व हुआ है, सो *अदसोऽसेर्दादु दो मः* सूत्र के त्रिपादिस्थ होने से *सर्वनाम्नः स्मै, ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ* (७।१।१४-१५) की दृष्टि में असिद्ध हो गया, अर्थात् इन्हें 'अद ङे' ऐसा अदन्त अङ्ग ही दीखा तो अदन्त अङ्ग से उत्तर मानकर स्मै आदि आदेश हो गये ॥ शुष्किका यहाँ *शुषः कः* (८।२।५१) *उदीचामातः स्थाने०*

(७।३।४६) की दृष्टि में असिद्ध रहता है, तो *प्रत्ययस्थात्०* (७।३।४४) से पाणिनि मुनि के मत में नित्य इत्व होता है। 'शुष्का' निष्ठान्त स्त्रीलिङ्ग से अज्ञातादि अर्थ में क तथा *केऽणः* (७।४।१३) से ह्रस्वत्व होकर पुनः टाप् एवं इत्व शुष्किका में हुआ है॥ शुष्के जङ्घेऽस्याः सा शुष्कजङ्घा यहाँ *शुषः कः* के *न कोपधायाः* (६।३।३५) की दृष्टि में असिद्ध होने से पुंवद्भाव प्रतिषेध नहीं होता॥ क्षामस्यापत्यं क्षामिः, क्षामिः अस्य अस्मिन् वास्तीति क्षामिमान् यहाँ क्षा धातु से उत्पन्न निष्ठा को जो *क्षायो मः* (८।२।५२) से 'म' हुआ था, वह इस त्रिपादी में ही *मादुपधायाः०* (८।२।९) की दृष्टि में असिद्ध रहा तो वत्व नहीं हुआ। इस प्रकार इस त्रिपादी में भी उत्तर उत्तर सूत्र के कार्य पूर्व पूर्व सूत्र की दृष्टि में असिद्ध रहते हैं का प्रयोजन हुआ॥

औजढत् यहाँ ऊढ शब्द से *तत्करोति०* (वा० ३।१।२६) से णिच् एवं तदन्त से लुङ् हुआ है। ऊढः की सिद्धि ६।१।१५ सूत्र में देखें। *णाविष्ठवत्०* (वा० ६।४।१५५) से 'ऊढ' के टि का लोप पटयति (परि० १।१।५५) के समान हुआ। शेष णि आदि का लोप अपीपचत् के समान (देखो परि० ६।१।११) होकर जब ऊढ् को चङि से द्वित्व करने लगे तो चङि की दृष्टि में 'ऊढ' में किये हुये ढत्व, ष्टुत्व, ढलोप कार्य त्रिपादीस्थ होने से असिद्ध हो गये, अर्थात् उसे ऊ ह् त ही दिखा। णि परे रहते जो टि लोप हुआ था, वह भी *णौ कृतं स्थानिवद्०* (महा० भा० १।१।५८) से स्थानिवत् हो गया अर्थात् 'ऊ ह् त' रहा। इस प्रकार *अजादेर्द्वि०* (६।१।२) लगकर 'ह् त' द्वित्व हुआ, यही इस सूत्र का फल है। आट् ऊ ह् त ढ् चङ् त् = हलादि शेष होकर आ ऊ ह ढ् अ त् = *कुहोश्चुः* (७।४।६२) से ह् को झ् *अभ्यासे चर्च* (८।४।५३) से ज् तथा वृद्धि एकादेश होकर औजढत् बन गया। यहाँ अक् लोप (टि लोप होने से) हुआ है, अतः *सन्वल्लघुनि०* (७।४।९५) से सन्वद्भाव नहीं होता है॥

गुडलिहोऽस्य सन्तीति = गुडलिण्मान् यहाँ पहले गुडं लेढि विग्रह करके गुडलिह् शब्द से क्विप् हुआ, तदन्त से मतुप् हुआ है, सो यहाँ भी 'ह्' को ढत्व *झलां जशोऽन्ते* (८।२।३९) से जश्त्व 'ड्' हुआ है, सो ये ढत्व जश्त्व *झयः* (८।२।१०) की दृष्टि में जब असिद्ध हो गये,

तो मतुप् को वत्व नहीं हुआ । पश्चात् *यरोऽनुनासिके०* (८।४।४४) से को ण् हो गया[1] ॥

इस सूत्र को हम अनुवृत्ति में सर्वत्र नहीं दिखायेंगे, क्योंकि प्रत्ये सूत्र में इसका भी अर्थ करना कोई उपयोगी नहीं, पाठकों को य इसे समझ लेना चाहिए कि सर्वत्र ही इन तीन पादों में यथावश्यक इस सूत्र का उपयोग होगा ।

नलोपः सुप्स्वरसंज्ञातुग्विधिषु कृति ॥८।२।२॥

नलोपः १।१॥ सुप्‌...विधिषु ७।३॥ कृति ७।१॥ स०—नकार लोपः नलोपः, षष्ठीतत्पुरुषः । सुप् च स्वरश्च संज्ञा च तुक् च सुप्स्व संज्ञातुकः, इतरेतरद्वन्द्वः । इत्येतेषां विधयः सुप्...विधयस्तेषु...षष्ठ तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—असिद्धः ॥ *अर्थः*—सुब्विधौ, स्वरविधौ, संज्ञाविधौ तुग्विधौ च कृति नलोपः पूर्वत्रासिद्धो भवति ॥ *उदा०*—सुब्विधौ राजभिः, तक्षभिः । राजभ्याम्, तक्षभ्याम् । राजसु, तक्षसु । स्वरविधौ राजवती । पञ्चार्मम्, दशार्मम् । पञ्चबीजी । संज्ञाविधौ–पञ्च ब्राह्मण्य दश ब्राह्मण्यः । तुग्विधौ–वृत्रहभ्याम्, वृत्रहभिः ॥

भाषार्थः—[*सुप्...विधिषु*] सुप्‌विधि, स्वरविधि संज्ञाविधि, तथा [*कृति* कृत् विषयक तुक् की विधि करने में [*नलोपः*] नकार का लोप असि होता है ॥ 'कृति' का सम्बन्ध यहाँ सम्भव होने तुक्‌विधि के साथ लगता है, अन्यों के साथ नहीं ॥ पूर्व सूत्र से ही असिद्धत्व सिद्ध थ पुनर्वचन नियमार्थ है, अर्थात्–नकार का लोप इन्हीं विधियों में असि होता है, अन्य विधियों में नहीं ॥ सुप् विधि से सुप् के स्थान में हो वाली विधि, एवं सुप् के परे रहते जो विधि सभी का ग्रहण है राजभिः तक्षभिः में राजन् तक्षन् के नकार का लोप (८।२।७) असि हो जाता है, तो अदन्त अङ्ग न होने से *अतो भिस ऐस्* (७।१।६) भिस् सुप् के स्थान में ऐस् नहीं होता । इसी प्रकार राजभ्याम् राज

---

१. हमने यहाँ बहुत से उदाहरण कठिन होने पर भी समझाने के लिये दे दिए किन्तु सारे उदाहरण सभी को प्रथमावृत्ति में ही समझा देने अभीष्ट नहीं है । चा तो अमुष्मिन् तक ही बतावें, शेष छोड़ दें । पश्चात् कभी इन्हें समझा जा सकता है

आदि में क्रमशः *सुपि च, बहुवचने झल्येत्* (७।३।१०३) से सुप् परे रहते दीर्घत्व, एत्व नहीं होता ॥ मतुप् प्रत्ययान्त राजवती यहाँ नलोप स्वर-विधि में असिद्ध होने से *अन्तोऽवत्याः* (६।१।२१४) से अन्तोदात्त नहीं होता, क्योंकि असिद्ध होने पर 'अवती' शब्दान्त राजवती नहीं रहेगा। पञ्चार्मम्, दशार्मम् यहाँ नलोप असिद्ध होने से *अर्मे चावर्णं०* (६।२।९०) से अवर्णान्त पूर्वपद न होने से पूर्वपद को आद्युदात्त नहीं होता। पञ्चार्मम् दशार्मम् में *दिक्सङ्ख्ये०* (२।१।४९) से समास हुआ है। पञ्चानां बीजानां समाहारः पञ्चबीजम्[1] यहाँ बीज शब्द से जो *अत इनिठनौ* (५।२।११५) से इनि हुआ था, उस नकार का लोप हुआ है, सो उसके असिद्ध हो जाने से इगन्तता नहीं रहती, अतः *इगन्तकालकपाल०* (६।२।२९) से पूर्वपद को प्रकृतिस्वर नहीं होता ॥ पञ्च ब्राह्मण्यः यहाँ नलोप करने के पश्चात् नान्त न होने से षट्संज्ञा पञ्च की प्राप्त नहीं थी, संज्ञाविधि में असिद्ध होने से हो गई, तो *न षट्स्वस्रा०* (४।१।१०) से पञ्च को प्राप्त टाप् (४।१।४) का प्रतिषेध हो गया ॥ वृत्रहभ्याम्, वृत्रहभिः में कृत् विषयक तुक्विधि *ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्* (६।१।६९) से करने में वृत्रहन् का नलोप असिद्ध हो गया तो तुक् आगम नहीं हुआ। कृत् परे रहते तुक् आगम *ह्रस्वस्य पिति०* में कहा है, अतः यह कृत् विषयक तुक् है ॥

न मु ने ॥८।२।३॥

न अ० ॥ मु लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ ने ७।१॥ *अनु०*—असिद्धः ॥ *अर्थः*—ने परतो यत् प्राप्नोति तस्मिन् कर्त्तव्ये मुभावो नासिद्धो भवति, किन्तु सिद्ध एव ॥ *उदा०*—अमुना ॥

भाषार्थः—[ने] [2]ना परे रहते [मु] मु भाव असिद्ध [न] नहीं होता, अर्थात् सिद्ध ही रहता है ॥ अमुना यहाँ *अदसोऽसेर्दा०* (८।२।८०) से जो द् को म् तथा द् से उत्तर उ हुआ था, वह 'मु' *पूर्वत्रासिद्धम्* से *सुपि च* (७।३।१०२) की दृष्टि में असिद्ध हो जाये तो *आङो नाऽस्त्रियाम्*

---

१. *पात्रादिभ्यः प्रतिषेधो वक्तव्यः* (वा० २।४।१७) से यहाँ स्त्रीत्व नहीं होता।

२. ना+ङि = ने। यथा *क्त्वायां च कित्प्रतिषेधः* (भा० वा० १।२।१) में आकार का लोप नहीं हुआ तद्वत्।

(७।३।११६) से हुये 'ना भाव' के परे रहते 'अमु' अङ्ग को दीर्घत्व *सुपि च* से प्राप्त हो किन्तु प्रकृत सूत्र से ना परे रहते मुभाव सिद्ध होने से नहीं होता ॥

यहाँ प्रश्न है कि प्रथम तो यहाँ *आङो नाऽस्त्रियाम्* की दृष्टि में भी *पूर्वत्रासिद्धम्* से मुभाव के असिद्ध हो जाने से 'अमु' की घिसंज्ञा (१।४।७) न होने से नाभाव प्राप्त ही नहीं हो सकता, पुनः 'ना' परे रहते मुभाव को असिद्ध कहना व्यर्थ है, क्योंकि 'ना' परे मिलेगा ही नहीं इसका उत्तर है कि–यहाँ ना परे रहते असिद्धत्व का निषेध कहा है, जो कि सम्भव ही नहीं, सो यह सूत्र व्यर्थ होकर ज्ञापक निकलता है कि यहाँ "इसी सूत्र से नाभाव करने में भी मुभाव सिद्ध ही रहता है।" तभी यह सूत्र सार्थक होगा ॥

उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य ॥८।२।४॥

उदात्तस्वरितयोः ६।२॥ यणः ५।१॥ स्वरितः १।१॥ अनुदात्तस्य ६।१॥ *स०*—उदात्तश्च स्वरितश्च उदात्तस्वरितौ तयोः''' इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अर्थः*— उदात्तस्य स्थाने यो यण् स्वरितस्य च स्थाने यो यण् ततः परस्यानुदात्तस्य स्वरित आदेशो भवति ॥ *उदा०*—उदात्तयणः—कुमार्यै, कुमार्याः[1]। स्वरितयणः —सकुल्ल्व्याशा, खलप्व्याशा ॥

भाषार्थः—[*उदात्तस्वरितयोः*] उदात्त तथा स्वरित के स्थान में जो [*यणः*] यण् उससे उत्तर [*अनुदात्तस्य*] अनुदात्त के स्थान में [*स्वरितः*] स्वरित आदेश होता है ॥ कुमार्यै कुमार्याः यहाँ कुमारी शब्द उदात्त-निवृत्ति स्वर से अन्तोदात्त है, सिद्धि इसकी ६।१।१५५ सूत्र में देख लें। अब इस कुमारी के 'ई' को अनुदात्त (३।१।४) ऐ एवं आस् परे रहते यणादेश होता है, सो यह उदात्त के स्थान में यण् है, अतः उससे उत्तर अनुदात्त 'ए' एवं 'आस्' को स्वरित होता है ॥ सकुल्ल्व्याशा, खलप्व्याशा यहाँ लू, पू, (धातु स्वर से अन्तोदात्त) धातुओं से क्विप् (३।२।७६) हुआ है, पश्चात् सकृत् एवं खल शब्दों के साथ *उपपदमतिङ्* (२।२।१६) से समास होकर सकुल्लू खलपू बना। अब ये शब्द *गति-कारको०* (६।२।१३८) से प्रकृति स्वर होने से अन्तोदात्त (धातु स्वर के

---

१. कुमार्यै कुमार्याः की सिद्धि भाग २ परि० ४।१।२ में देखें।

कारण) हैं, अतः जब इनके उदात्त ऊकार के स्थान में अनुदात्त 'ङि' के परे रहते यणादेश हुआ तो अनुदात्त ङि के 'इ' को प्रकृत सूत्र से स्वरित आदेश हो गया। अब सकुल्ल्विं खलप्विं स्वरितान्त से परे आशा शब्द रहते पुनः स्वरित 'इ' के स्थान में यणादेश हुआ। आशा शब्द *आशाया अदिगाख्या चेत्* (फिट्० १८) से अन्तोदात्त है, अतः *अनुदात्तं पद०* (६।१।१५२) से अनुदात्त 'आ' हुआ सो सकुल्ल्विं आशा = सकुल्ल्व्यांशा खलप्व्यांशा यहाँ इकार के स्थान में हुये स्वरितयण् से उत्तर आशा के अनुदात्त 'आ' को स्वरित आदेश हो गया॥

यहाँ से '*अनुदात्तस्य*' की अनुवृत्ति ८।२।६ तक जायेगी॥

एकादेश उदात्तेनोदात्तः ॥८।२।५॥

एकादेशः १।१॥ उदात्तेन ३।१॥ उदात्तः १।१॥ *स०*—एकश्चासावादेशश्च एकादेशः, कर्मधारयतत्पुरुषः॥ *अनु०*—अनुदात्तस्य॥ *अर्थः*—उदात्तेन सह अनुदात्तस्य य एकादेशः स उदात्तो भवति॥ आन्तरतम्यात् स्वरिते प्राप्त इदमारभ्यते॥ *उदा०*—अग्नी, वायू, वृक्षैः, प्लक्षैः॥

भाषार्थः—[*उदात्तेन*] उदात्त के साथ जो अनुदात्त का [*एकादेशः*] एकादेश वह [*उदात्तः*] उदात्त होता है॥ उदात्त एवं अनुदात्त का एकादेश अन्तरतम होने से स्वरितत्व प्राप्त था, उदात्त कह दिया॥ 'अग्नि औ' यहाँ अग्नि शब्द प्रातिपदिक स्वर (फिट्० १) या प्रत्यय स्वर से अन्तोदात्त है, एवं 'औ' *अनुदात्तौ सुप्पितौ* (३।१।३) से अनुदात्त है, अतः दोनों को हुआ *प्रथमयोः०* (६।१।९८) से पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश प्रकृत सूत्र से उदात्त ही हुआ। इसी प्रकार वायू में जानें। वृक्षैः प्लक्षैः में *वृद्धिरेचि* (६।१।८५) से वृद्धि एकादेश हुआ है॥

यहाँ से '*एकादेश उदात्तेन*' की अनुवृत्ति ८।२।६ तक जायेगी॥

स्वरितो वाऽनुदात्ते पदादौ ॥८।२।६॥

स्वरितः १।१॥ वा अ०॥ अनुदात्ते ७।१॥ पदादौ ७।१॥ *स०*—पदस्य आदिः पदादिस्तस्मिन्''षष्ठीतत्पुरुषः॥ *अनु०*—एकादेश उदात्तेन, अनुदात्तस्य॥ *अर्थः*—उदात्तेन सह योऽनुदात्ते पदादौ एकादेशः स स्वरितो भवति विकल्पेन। पक्षे पूर्वेण प्राप्तत्वादुदात्तो भवति॥ *उदा०*—

सु उत्थितः = सूत्थितः । पक्षे—सूत्थितः । वि ईक्षते = वीक्षते, वीक्षते । वसुकः असि = वसुकोऽसि, वसुकोऽसि ॥

भाषार्थः—[*पदादौ*] पदादि [*अनुदात्ते*] अनुदात्त के परे रहते उदात्त के साथ में हुआ जो एकादेश (अर्थात् उदात्त एवं पदादि अनुदात्त इन दोनों के स्थान में हुआ एकादेश) वह [*वा*] विकल्प करके [*स्वरितः*] स्वरित होता है। पक्ष में पूर्व सूत्र से प्राप्त उदात्त ही होगा ॥ सूत्थितः यहाँ सु शब्द *सुः पूजायाम्* (१।४।९३) से कर्मप्रवचनीय[1] संज्ञक है। उसका *कुगतिप्रादयः* (२।२।१८) से समास होकर *तत्पुरुषे तुल्या०* (६।२।२) से अव्यय मानकर पूर्वपद को प्रकृतिस्वरत्व अर्थात् *निपाता आद्युदात्ताः* (फिट्० ७९) से उदात्तत्व होकर शेष पद को *अनुदात्तं०* (६।१।१५२) से अनुदात्त हो गया। इस प्रकार पद के आदि में उकार 'अनुदात्त' अक्षर परे है, सो दोनों के एकादेश (६।१।९७) को विकल्प से स्वरितत्व हो गया ॥ वीक्षते, वसुकोऽसि यहाँ *तिङ्ङतिङः* (८।१।२८) से 'ईक्षते तथा असि' निघात हैं, सो दोनों स्थलों में अनुदात्त पदादि परे है। 'वि' *उपसर्गाश्चा०* (फिट्० ८०) से एवं वसुकः प्रातिपदिक स्वर से अन्तोदात्त है ही, इस प्रकार दोनों के एकादेश को विकल्प से स्वरित हो गया ॥

नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य ॥८।२।७॥

न लुप्तषष्ठ्यन्तः[2] ॥ लोपः १।१॥ प्रातिपदिक इति लुप्तषष्ठीकम् ॥ अन्तस्य ६।१॥ *अनु०*—पदस्य ॥ *अर्थः*—प्रातिपदिकस्य पदस्य योऽन्त्यो नकारस्तस्य लोपो भवति ॥ *उदा०*—राजा, राजभ्याम्, राजभिः। राजता, राजतरः, राजतमः ॥

भाषार्थः—[*प्रातिपदिकान्तस्य*] प्रातिपदिक पद के अन्त [*नलोपः*] नकार का लोप होता है ॥ उदाहरणों में *स्वादिष्व०* (१।४।१७) से राजन् की पद संज्ञा भ्याम् आदि परे रहते है, सो प्रातिपदिक पद के अन्त न् का लोप हो गया। सिद्धियाँ परि० १।४।१७ में देखें ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ८।२।८ तक जायेगी ॥

---

१. सु की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से गति संज्ञा का बाध हो जाता है, तो *गतिर्गतौ* (८।१।७०) से 'सु' को निघात नहीं होता, यही प्रयोजन है ॥

२. नस्य लोपो नलोप इत्यसमर्थसमासो भवति। नकारस्य 'प्रातिपदिकान्तस्य' पदेन सहान्वयात्, अत एव पृथक् पदं कल्प्यते।

न ङिसम्बुद्ध्योः ॥८।२।८॥

न अ० ॥ ङिसम्बुद्ध्योः ७।२॥ स०—ङिश्च सम्बुद्धिश्च ङिसम्बुद्धी, तयोः···इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य, पदस्य ॥ *अर्थः*—प्रातिपदिकस्य पदस्य यो नकारस्तस्य ङौ सम्बुद्धौ च परतो लोपो न भवति ॥ *उदा०*—ङौ-आर्द्रे चर्मन् , रोहिते चर्मन् (काठ० २४।२) । सम्बुद्धौ–हे राजन् , हे तक्षन् ॥

भाषार्थः—प्रातिपदिक पद के अन्त का जो नकार उसका [*ङिसम्बुद्ध्योः*] ङि तथा सम्बुद्धि परे रहते लोप [*न*] नहीं होता ॥ उदाहरण में चर्मन् के ङि का *सुपां सुलुक्०* (७।१।३९) से लुक् हो गया है । हे राजन् आदि में सु का हल्ङ्यादि लोप हो गया है ॥ पूर्व सूत्र से नकार लोप की प्राप्ति थी, प्रतिषेध कर दिया है ॥

मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः ॥८।२।९॥

मात् ५।१॥ उपधायाः ५।१॥ च अ० ॥ मतोः ६।१॥ वः १।१॥ अयवादिभ्यः ५।३॥ *स०*—मश्च अश्च मम् , तस्मात्···समाहारद्वन्द्वः । यव आदिर्येषां ते यवादयः, बहुव्रीहिः । न यवादयोऽयवादयस्तेभ्यः··· नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—पदस्य ॥ *अर्थः*—मकारान्ताद् मकारोपधाद् अवर्णान्तादवर्णोपधाच्च प्रातिपदिकात् उत्तरस्य मतोर्व इत्ययमादेशो भवति, यवादिभ्यस्तु उत्तरस्य न भवति ॥ *उदा०*—मकारान्तात्—किंवान् , शंवान् । मकारोपधात्–शमीवान् , दाडिमीवान् । अवर्णान्तात्–वृक्षवान् , प्लक्षवान् , खट्वावान् , मालावान् । अवर्णोपधात्—पयस्वान् , यशस्वान् , भास्वान् ॥

भाषार्थः—[*मात्*] मकारान्त एवं अवर्णान्त [*च*] तथा मकार एवं अवर्ण [*उपधायाः*] उपधा वाले प्रातिपदिक से उत्तर [*मतोः*] मतुप् को [*वः*] वकारादेश होता है किन्तु [*अयवादिभ्यः*] यवादि शब्दों से उत्तर मतुप् को व नहीं होता ॥ यहाँ 'मात्' को सामर्थ्य से 'उपधायाः' का विशेषण बनाना है, एवं स्वतन्त्र रूप से "मकारान्त तथा अवर्णान्त" ऐसा भी अर्थ करना अभीष्ट है, तद्वत् उदाहरण प्रत्येक के पृथक् २ दर्शा दिये

हैं ।। मतुप् का 'मत्' शेष रहता है । त् का भी संयोगान्त लोप हो जाता है । सर्वत्र *तस्मादित्युत्तरस्य, आदेः परस्य* (१।१।६६-५३) के नियम से मतुप् के म को ही व होगा ।। सिद्धियाँ भाग २ सूत्र ५।२।९४ में देखें । पयस् यशस् की 'वान्' परे *तसौ मत्वर्थे* (१।४।१९) से भ संज्ञा नहीं होती अतः *ससजुषो रुः* (८।२।६६) नहीं लगा ।।

यहाँ से '*मतोः*' की अनुवृत्ति ८।२।१६ तक तथा '*वः*' की ८।२।१५ तक जायेगी ।।

झयः ।।८।२।१०।।

झयः ५।१।। अनु०—मतोर्वः, पदस्य ।। *अर्थः*—झयन्तादुत्तरस्य मतोर्व इत्ययमादेशो भवति ।। *उदा०*—अग्निचित्वान् ग्रामः । उदश्वित्वान् घोषः । विद्युत्वान् बलाहकः । इन्द्रो मरुत्वान् । दृषद्वान् देशः ।।

भाषार्थः—[*झयः*] झयन्त (प्रत्याहार) से उत्तर मतुप् को वकारादेश हो जाता है ।। विद्युत्वान् उदश्वित्वान् की सिद्धि परि० १।४।१९ में देखें, तद्वत् अन्य सिद्धियाँ भी हैं ।। विद्युत् आदि शब्द झय् प्रत्याहार अन्त वाले हैं ही ।।

संज्ञायाम् ।।८।२।११।।

संज्ञायाम् ७।१।। *अनु०*—मतोर्वः, पदस्य ।। *अर्थः*—संज्ञायां विषये मतोर्व इत्ययमादेशो भवति ।। *उदा०*—अहीवती, कपीवती, ऋषीवती, मुनीवती ।।

भाषार्थः—[*संज्ञायाम्*] संज्ञा विषय में मतुप् को वकारादेश होता है ।। उदाहरणों में *नद्यां मतुप्* (४।२।८४) से मतुप्, *शरादीनां च* (६।३।११८) से अहि कपि आदि को दीर्घ तथा *उगितश्च* (४।१।६) से मतुबन्त को ङीप् हुआ है ।।

यहाँ से '*संज्ञायाम्*' की अनुवृत्ति ८।२।१३ तक जायेगी ।।

आसन्दीवदष्ठीवच्चक्रीवत्कक्षीवद्रुमण्वच्चर्मण्वती ।।८।२।१२।।

आसन्दीवत्० सर्वाण्यत्र चर्मण्वतीं विहाय लुप्तप्रथमान्तानि पदानि पृथक् २ निर्दिष्टानि ।। चर्मण्वती १।१।। *अनु०*—संज्ञायाम् ।। *अर्थः*—

आसन्दीवत् अष्ठीवत्, चक्रीवत्, कक्षीवत्, रुमण्वत्, चर्मण्वती इत्येतानि संज्ञायां विषये निपात्यन्ते ॥ मतोर्वत्वं तु पूर्वेणैव सिद्धमादेशार्थानि निपातनानि ॥ आसन्दीवत् इत्यत्र आसनशब्दस्य 'आसन्दी' भावो निपात्यते। अष्ठीवत् इत्यत्र अस्थिशब्दस्य 'अष्ठी' भावो निपात्यते। चक्रीवत् इत्यत्र चक्रशब्दस्य 'चक्री' भावः। कक्षीवत् इत्यत्र कक्ष्याशब्दस्य सम्प्रसारणं निपात्यते, कृते च सम्प्रसारणे *हलः* (६।४।२) इति दीर्घः। रुमण्वत् इत्यत्र लवणशब्दस्य 'रुमण्' भावो निपात्यते। चर्मण्वती इत्यत्र चर्मणो नलोपाभावो णत्वञ्च निपात्यते ॥ *उदा०*—आसन्दीवान् ग्रामः, आसन्दीवदहिस्थलम्। संज्ञाविषयादन्यत्र—आसनवान्। अष्ठीवान्। अस्थिमान् इत्येवान्यत्र। चक्रीवान् राजा। अन्यत्र चक्रवान्। कक्षीवान्नाम ऋषिः। कक्ष्यावान् इत्येवान्यत्र। रुमण्वान्। अन्यत्र—लवणवान्। चर्मण्वती नाम नदी। अन्यत्र—चर्मवती ॥

भाषार्थः—संज्ञा विषय में [*आसन्दीवत्***...** *ण्वती*] आसन्दीवत् अष्ठीवत्, चक्रीवत्, कक्षीवत्, रुमण्वत्, चर्मण्वती ये शब्द निपातन किये जाते हैं ॥ पूर्व सूत्र से ही संज्ञा विषय होने से सर्वत्र मतुप् को वत्व सिद्ध था, आदेशार्थ यह निपातन है। इस प्रकार आसन्दीवत् शब्द में आसन शब्द को आसन्दी आदेश निपातित है। अष्ठीवत् में अस्थि शब्द को अष्ठी आदेश निपातन है। चक्रीवत् में चक्र को चक्रीभाव निपातन है। कक्षीवत् में कक्ष्या शब्द को सम्प्रसारण निपातित है, सम्प्रसारण कर लेने पर *हलः* (६।४।२) से दीर्घत्व हो जायेगा। रुमण्वत् यहाँ लवण शब्द को रुमण् भाव निपातित है। चर्मण्वती यहाँ चर्मन् शब्द के नकार लोप का अभाव एवं णत्व निपातित है, क्योंकि मतुप् परे रहते पद संज्ञा होने से *नलोपः प्राति०* (८।२।७) से नकारलोप प्राप्त था, एवं *रषाभ्यां नो णः०* (८।४।१) से प्राप्त णत्व का *पदान्तस्य* (८।४।३६) से प्रतिषेध प्राप्त था, अतः ये विधियाँ न हो जायें इसलिये निपातन कर दिया ॥ सु विभक्ति परे रहते आसन्दीवान् आदि प्रयोग बन ही जायेंगे ॥

उदन्वानुदधौ च ॥८।२।१३॥

उदन्वान् १।१॥ उदधौ ७।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—संज्ञायाम् ॥ *अर्थः*—उदन्वान् इति निपात्यते। उदकशब्दस्य उदन्भावो मतौ परतः,

उदधावर्थे संज्ञायां विषये च निपात्यतेऽत्र ॥ *उदा०*—संज्ञायाम्—उदन्वान् नाम ऋषिः । दधौ—उदन्वान् ॥

भाषार्थः—[*उदन्वान्*] उदन्वान् शब्द [*उदधौ*] उदधि [*च*] तथ संज्ञा विषय में निपातन है । मतुप् परे रहते उदक शब्द को उदन् भाव यहाँ निपातित है ॥ उदधि सामान्य रूप से समुद्र घट मेघ आदि क वाचक है । परन्तु उदधि का सामान्यार्थ उदकं धीयते यत्र मानकर उदन्वान् का भी सामान्यार्थ में प्रयोग देखा जाता है ॥

राजन्वान् सौराज्ये ॥८।२।१४॥

राजन्वान् १।१॥ सौराज्ये ७।१॥ *स०*—शोभनो राजा यस्मिन् देशे स सुराजा, बहुव्रीहिः । तस्य कर्म सौराज्यम् ब्राह्मणादित्वात् ष्यञ्, *नस्तद्धिते* (६।४।१४४) इति टिलोपश्च ॥ *अर्थः*—राजन्वान् इति निपात्यते सौराज्ये गम्यमाने । नलोपाभावोऽत्र निपातनेन भवति ॥ *उदा०*—शोभनो राजा यस्मिन् स राजन्वान् देशः । राजन्वती पृथिवी । 'राजवान्' अन्यत्र भवति ॥

भाषार्थः—[*राजन्वान्*] राजन्वान् शब्द को [*सौराज्ये*] सौराज्य गम्यमान होने पर निपातन किया है । मतुप् परे रहते राजन् के नकार का लोप ८।२।७ से प्राप्त था उसका अभाव यहाँ निपातित है, अथवा नलोप करके नुट् आगम यहाँ निपातित है ॥ अच्छे राजा का कर्म सौराज्य कहाता है, अतः राजन्वान् वह देश कहाता है, जिसका राजा श्रेष्ठ हो ॥

छन्दसीरः ॥८।२।१५॥

छन्दसि ७।१॥ इरः ५।१॥ *स०*—इश्च रश्च इर् तस्मात् ' 'समाहार-द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—मतोर्वः ॥ *अर्थः*—इवर्णान्ताद् रेफान्ताच्चोत्तरस्य मतोर्वत्वं भवति छन्दसि विषये ॥ *उदा०*—इवर्णान्तात्–त्रिवती याज्यानुवाक्या भवति । हरिवो मेदिनं त्वा (ऋ० खि० पा० १०।१२८।१) अधिपतिवती जुहोति । चरुरग्निवानिव (ऋ० ७।१०४।२) । आरेवानेतु मा विशत् । सरस्वतीवान् भारतीवान् (ऐ० ब्रा० २।२४) दधीवांश्चरुः । रेफान्तात्–गीर्वान्, धूर्वान्, आशीर्वान् ॥

भाषार्थः—[*इरः*] इवर्णान्त तथा रेफान्त शब्दों से उत्तर [*छन्दसि*] वेद विषय में मतुप् को वकारादेश होता है ॥ हरिवो मेदिनम् यहाँ हरि

कारान्त शब्द से मतुप् होकर हरिमन्त् सु रहा। हल्ङ्यादिलोप, संयोगान्त लोप एवं प्रकृत सूत्र से वत्व होकर हरिवन् बना। अब *मतुवसो रु०* (८।३।१) से हरिवन् के न् को (१।१।५१) रु हो गया, पश्चात् मेदिनम् का 'म्' हश् परे रहते *हशि च* से रु को उत्व एवं *आद् गुणः* (६।१।८४) से गुण एकादेश होकर 'हरिवो' बन गया। यहाँ *हशि* च की दृष्टि में संयोगान्त लोप *संयोगान्तस्य लोपे रोरुत्वे सिद्धो वक्तव्यः* (*वा०* ८।२।३) इस वार्त्तिक से सिद्ध ही रहता है, नहीं तो असिद्ध होने पर (८।२।१) त् परे माना जाता, जो कि हश् में नहीं है तो *हशि* च से उत्व न हो सकता, ऐसा जानना चाहिये॥ रेवान् यहाँ रयि को मतुप् परे रहते *रयेर्मतौ बहुलम्* (*वा०* ६।१।३६) इस वार्त्तिक से सम्प्रसारण होकर 'र इ वन्त्' रहा। *आद्गुणः* लगकर रेवान् बन गया॥ धूः की सिद्धि परि० ३।२।१७७ में की है, सो यहाँ मतुप् परे रहते विसर्जनीय न होने से धूर्वान् बन गया। गॄ तथा आङ् पूर्वक शासु से *सम्पदादिभ्यः किप्* (*वा०* ३।३।९४) से क्विप् प्रत्यय हुआ है। गॄ को *ॠत इद्धातोः* (७।१।१००) से इत्व रपरत्व एवं *र्वोरुपधायाः०* (८।२।७६) से दीर्घ होकर गीर् बना। मतुप् आकर गीर्वान् बन गया। आशास् क्विप् यहाँ *शास इत्व आशासः क्वौ०* (भा० वा० ६।४।३४) से शास् की उपधा को इत्व होकर आशिस् रहा। स् को रुत्व (८।२।६६) एवं पूर्ववत् दीर्घत्व तथा मतुप् होकर आशीर्वान् बन गया॥

यहाँ से '*छन्दसि*' की अनुवृत्ति ८।२।१७ तक जायेगी॥

अनो नुट् ॥८।२।१६॥

अनः ५।१॥ नुट् १।१॥ *अनु०*—छन्दसि, मतोः॥ *अर्थः*—छन्दसि विषयेऽनन्तादुत्तरस्य मतोर्नुडागमो भवति॥ *उदा०*—अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायः (ऋ० १०।७१।७)। अस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्त्ति (ऋ० १।१६४।४)। अक्षण्वता लाङ्गलेन। शीर्षण्वती। मूर्द्धन्वती॥

भाषार्थः—वेद विषय में [*अनः*] अन् अन्त वाले शब्द से उत्तर मतुप् को [नुट्] नुट् आगम होता है॥ अक्षण्वता अस्थन्वन्तम् की सिद्धि सूत्र ७।१।७६ में देखें। अक्षण्वन्तः भी तद्वत् जानें। शीर्षन् शब्द *शीर्षश्छन्दसि* (६।१।५९) सूत्र में निपातित है, उसको मतुप् परे रहते नुट् होकर पश्चात् अक्षण्वता के समान ही नलोपादि हो गये। *उगितश्च*

(४।१।४) से ङीप् होकर शीर्षण्वती बन गया। इसी प्रकार मूर्द्धन्वती बन गया ॥

यहाँ से 'नुट्' की अनुवृत्ति ८।२।१७ तक जायेगी ॥

नाद् घस्य ॥८।२।१७॥

नात् ५।१॥ घस्य ६।१॥ *अनु०*—नुट्, छन्दसि ॥ *अर्थः*—नकारान्तादुत्तरस्य घसंज्ञकस्य छन्दसि विषये नुडागमो भवति ॥ *उदा०*—सुपथिन्तरः। दस्युहन्तमम् (ऋ० ६।१६।१५, ८।३६।८,१०।१०७।२) ॥

भाषार्थः—[*नात्*] नकारान्त शब्द से उत्तर [*घस्य*] घसंज्ञक को वेद विषय में नुट् आगम होता है ॥ सुपथिन् शब्द से तरप् (५।३।५७) प्रत्यय होकर तरप् (१।१।२१) को नुट् आगम तथा सुपथिन् के न् का लोप पूर्ववत् होकर सुपथिन्तरः बन गया। दस्युं हतवान् = दस्युहन् शब्द से तमप् होकर इसी प्रकार दस्युहन्तमः बन गया ॥

कृपो रो लः ॥८।२।१८॥

कृपः ६।१॥ रः ६।१॥ लः १।१॥ *अर्थः*—कृपेर्धातोः रेफस्य लकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—कल्प्ता, कल्प्तारौ, कल्प्तारः। क्लृप्तः, क्लृप्तवान् ॥

भाषार्थः—[*कृपः*] कृप धातु के [*रः*] रेफ को [*लः*] लकारादेश होता है ॥ '*रः*' से यहाँ सामान्य रूप से रेफ लिया गया है, सो ऋकार में जो रेफ श्रुति एवं ऋ को गुण रपरत्व होकर जो रेफ दोनों को एकश्रुति वा लत्व होता है ॥ सिद्धियाँ *लुटि च क्लृपः* (१।३।९३) सूत्र में देखें। गुण होकर कर्प् ता = कल्प्ता बना। निष्ठा में जहाँ गुण नहीं हुआ वहाँ ऋ को रेफ श्रुति और उसको ल श्रुति होकर क्लृप्तः क्लृप्तवान् बना ॥

यहाँ से '*रो लः*' की अनुवृत्ति ८।२।२२ तक जायेगी ॥

उपसर्गस्यायतौ ॥८।२।१९॥

उपसर्गस्य ६।१॥ अयतौ ७।१॥ *अनु०*—रो लः ॥ *अर्थः*—अयतौ परत उपसर्गस्य यो रेफस्तस्य लकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—प्लायते, पलायते, पल्ययते ॥

भाषार्थः—[*अयतौ*] अय धातु के परे रहते [*उपसर्गस्य*] उपसर्ग-का जो रेफ उसको लकारादेश (लत्व) होता है ॥ प्र अयते = प्ल अयते = प्लायते । परा अयते = पलायते । परि अयते = यणादेश तथा लत्व होकर पल्ययते बन गया ॥

ग्रो यङि ॥८।२।२०॥

ग्रः ६।१॥ यङि ७।१॥ *अनु०*—रो लः ॥ *अर्थः*—गॄ इत्येतस्य धातोः रेफस्य लत्वं भवति यङि परतः ॥ *उदा०*—निजेगिल्यते, निजेगिल्येते, निजेगिल्यन्ते ॥

भाषार्थः—[*ग्रः*] गॄ धातु के रेफ को [*यङि*] यङ् परे रहते लत्व होता है ॥ सिद्धि भाग १ परि० ३।१।१४ में देखें ॥

यहाँ से '*ग्रः*' की अनुवृत्ति ८।२।२१ तक जायेगी ॥

अचि विभाषा ॥८।२।२१॥

अचि ७।१॥ विभाषा १।१॥ *अनु०*—ग्रः, रो लः ॥ *अर्थः*—अजादौ प्रत्यये परतो गॄ इत्येतस्य रेफस्य विभाषा लकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—निगिरति, निगिलति । निगरणम्, निगलनम् । निगारकः, निगालकः ॥

भाषार्थः—[*अचि*] अजादि प्रत्यय परे रहते गॄ धातु के रेफ को [*विभाषा*] विकल्प करके लत्व होता है ॥ गॄ धातु तुदादिगणस्थ है, अतः श विकरण (३।१।७७) होकर 'नि गॄ अ ति' रहा । अपित् सार्वधातुक परे होने से गुण न होकर *ॠत इद्धातोः* (७।१।१००) से इत्व होकर नि गिर् अ ति रहा । अब यहाँ अच् परे है सो पक्ष में लत्व एवं पक्ष में न होकर निगिरति निगिलति बन गया । ल्युट् परे रहते गुण होकर निगरणम्, निगलनम् तथा ण्वुल् परे वृद्धि (७।२।११६) होकर निगारकः, निगालकः बन गया ॥

यहाँ से '*विभाषा*' की अनुवृत्ति ८।२।२२ तक जायेगी ॥

परेश्च घाङ्कयोः ॥८।२।२२॥

परेः ६।१॥ च अ० ॥ घाङ्कयोः ७।२॥ *स०*—घा० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—विभाषा, रो लः ॥ *अर्थः*—परि इत्येतस्य च यो रेफस्तस्य घशब्दे, अङ्कशब्दे च परतो विकल्पेन लत्वं भवति ॥ *उदा०*—घशब्दे—परिघः,

पलिघः। अङ्कशब्दे—परिगतोऽङ्कः=पर्यङ्कः, पल्यङ्कः॥ अङ्कशब्द साहचर्यात् घशब्दो गृह्यते न तरप्तमपोः संज्ञा॥

भाषार्थः—[*परेः*] परि के रेफ को [*घाङ्कयोः*] घ तथा अङ्क शब्द प रहते विकल्प से लत्व होता है॥ अङ्क शब्द के साहचर्य से 'घ' से यहाँ शब्दस्वरूप का ग्रहण है, घ संज्ञक तरप् तमप् प्रत्ययों का नहीं॥ परिघः पलिघः में *परौ घः* (३।३।८४) से अप् प्रत्यय तथा हन् को घ आदेः एवं टिलोप हुआ है। अकि धातु को इदित्वात् नुम् तथा पचाद्यच् होक 'अङ्कः' बना है, पश्चात् *कुगतिप्रादयः* (२।२।१८) से परि के साथ समार एवं यणादेश होकर पर्यङ्कः पल्यङ्कः बन गया॥

संयोगान्तस्य लोपः ॥८।२।२३॥

संयोगान्तस्य ६।१॥ लोपः १।१॥ स०—संयोगोऽन्ते यस्य तत् संयोगान्तं तस्य बहुव्रीहिः॥ *अनु०*—पदस्य॥ *अर्थः*—संयोगान्तस्य पदस्य लोपो भवति॥ *उदा०*—गोमान्, यवमान्, कृतवान्, हतवान्॥

भाषार्थः—[*संयोगान्तस्य*] संयोग अन्त वाले पद का [*लोपः*] लोप होता है॥ *अलोऽन्त्यस्य* (१।१।५१) से अन्त्य अल् का ही लोप होगा। कृतवान् की सिद्धि परि० १।१।५ में देखें, तद्वत् हन् धातु से *अनुदात्तोपदेश०* (६।४।३७) से अनुनासिक लोप होकर हतवान् बना है। गोमान् यवमान् में मतुप् प्रत्यय हुआ है॥ *हलोऽनन्तराः०* (१।१।७) से संयोग संज्ञा होती है॥

यहाँ से '*संयोगान्तस्य*' की अनुवृत्ति ८।२।२४ तक तथा '*लोपः*' की ८।२।२९ तक जायेगी॥

रात्सस्य ॥८।२।२४॥

रात् ५।१॥ सस्य ६।१॥ *अनु०*—संयोगान्तस्य लोपः, पदस्य॥ *अर्थः*—संयोगान्तस्य पदस्य यो रेफस्तस्मादुत्तरस्य सकारस्य लोपो भवति॥ नियमार्थोऽयमारम्भः। रात् सस्यैव लोपो भवति नान्यस्य॥ *उदा०*—मातुः, पितुः। गोभिरक्षाः (ऋ० ९।१०७।९)। प्रत्यञ्चमत्साः (ऋ० १०।२८।४)॥

भाषार्थः—संयोग अन्त वाले पद का जो [*रात्*] रेफ उससे उत्तर [*सस्य*] सकार का लोप होता है॥ पूर्व सूत्र से ही संयोगान्त पद

का लोप सिद्ध था, पुनर्वचन नियमार्थ है अर्थात्—रेफ से उत्तर यदि संयोगान्त लोप हो तो सकार का ही हो, किसी अन्य का नहीं, अतः ऊर्क् आदि में रेफ से उत्तर ककार आदि का लोप नहीं होता ॥

मातृ पितृ शब्द से ङस् अथवा ङसि विभक्ति आकर मातुः पितुः बना है। सिद्धि प्रकार होतुः के समान ६।१।१०७ सूत्र में देखें ॥ अक्षाः अत्साः की सिद्धि ७।३।९७ सूत्र में देखें ॥

यहाँ से 'सस्य' की अनुवृत्ति ८।२।२८ तक जायेगी ॥

धि च ॥८।२।२५॥

धि ७।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—सस्य, लोपः ॥ *अर्थः*—धकारादौ च प्रत्यये परतः सकारस्य लोपो भवति ॥ *उदा०*—अलविध्वम्, अलविढ्वम्। अपविध्वम्, अपविढ्वम् ॥

भाषार्थः—[*धि*] धकारादि प्रत्यय के परे रहते [*च*] भी सकार का लोप होता है ॥ अलविध्वम् यहाँ आत्मनेपद में अट् लू इट् सिच् ध्वम् = गुण होकर अ लो इ स् ध्वम् = अ लव् इ स् ध्वम् रहा। ध्वम् धकारादि प्रत्यय के परे रहते सिच् के स् का लोप होकर अलविध्वम् बन गया। *विभाषेटः* (८।३।७९) से पक्ष में ध्वम् के ध् को मूर्धन्य आदेश होकर अलविढ्वम् बन गया। इसी प्रकार अपविध्वम् अपविढ्वम् में जानें ॥

झलो झलि ॥८।२।२६॥

झलः ५।१॥ झलि ७।१॥ *अनु०*—सस्य, लोपः ॥ *अर्थः*—झल उत्तरस्य सकारस्य झलि परतो लोपो भवति ॥ *उदा०*—अभित्त, अभित्थाः। अच्छित्त, अच्छित्थाः। अवात्ताम्, अवात्त ॥

भाषार्थः—[*झलः*] झल् से उत्तर सकार का लोप होता है, [*झलि*] झल् परे रहते ॥ भिदिर् छिदिर् से लुङ् आत्मनेपद में अ भिद् स् त = यहाँ झल् से उत्तर सिच् का स् है, तथा झल् परे भी है, अतः स् लोप तथा *खरि च* (८।४।५४) से चर्त्व होकर अभित्त अच्छित्त बन गया। अच्छित्त में *छे च* (६।१।७१) से तुक् आगम एवं श्चुत्व हुआ है। थास् परे रहते अभित्थाः बना। वस् से इसी प्रकार तस् को ताम् (३।४।१०१) होकर, तथा 'स्' लोप *सः स्यार्धधातुके* (७।४।४९) की दृष्टि में असिद्ध

माना जाने से वस् के स् को त् होकर अवात्ताम् बना है। वदव्रज (७।२।३) से यहाँ वृद्धि भी होती है। इसी प्रकार 'थ' को ३।४।१० से ही त होकर अवात्त बना है॥

यहाँ से '*झलि*' की अनुवृत्ति ८।२।३८ तक जायेगी॥

ह्रस्वादङ्गात् ॥८।२।२७॥

ह्रस्वात् ५।१॥ अङ्गात् ५।१॥ *अनु०*—झलि, सस्य, लोपः॥ *अर्थः*—ह्रस्वान्तादङ्गादुत्तरस्य सकारस्य झलि परतो लोपो भवति॥ उदा०—अकृत, अकृथाः। अहृत, अहृथाः॥

भाषार्थः—[*ह्रस्वात्*] ह्रस्वान्त [*अङ्गात्*] अङ्ग से उत्तर सकार का झल् परे रहते लोप होता है॥ सिद्धि *उश्च* (१।२।१२) सूत्र में देखें॥

इट ईटि ॥८।२।२८॥

इटः ५।१॥ ईटि ७।१॥ *अनु०*—सस्य, लोपः॥ *अर्थः*—इट उत्तरस्य सकारस्य लोपो भवति ईटि परतः॥ *उदा०*—अदेवीत्, असेवीत्, अकोषीत्, अमोषीत्॥

भाषार्थः—[*इटः*] इट् से उत्तर सकार का लोप होता है [*ईटि*] ईट् परे रहते॥ अदेवीत् आदि में *नेटि* (७।२।४) से वृद्धि का प्रतिषेध होता है। सिद्धि प्रकार परि० १।१।१ के अलावीत् के समान जानें॥

स्कोः संयोगाद्योरन्ते च ॥८।२।२९॥

स्कोः ६।२॥ संयोगाद्योः ६।२॥ अन्ते ७।१॥ च अ०॥ *स०*—सश्च कश्च स्कौ, तयोः...इतरेतरद्वन्द्वः। संयोगस्य आदी संयोगादी तयोः... षष्ठीतत्पुरुषः॥ *अनु०*—झलि, लोपः, पदस्य॥ *अर्थः*—पदान्ते झलि च परतो यः संयोगस्तदाद्योः सकारककारयोर्लोपो भवति॥ *उदा०*—सकारस्य—लग्नः, लग्नवान्, साधुलक्। ककारस्य—तक्षेः—तष्टः, तष्टवान्, काष्ठतट्॥

भाषार्थः—पद के [*अन्ते*] अन्त में [*च*] तथा झल् परे रहते जो [*संयोगाद्योः*] संयोग उसके आदि के [*स्कोः*] सकार तथा ककार का लोप होता है॥ लग्नः लग्नवान् की सिद्धि सूत्र ७।२।१४ में देखें। यहाँ झल् निष्ठा परे है॥ साधुलक् यहाँ ओलस्जी से क्विप् (३।२।७६)

हुआ है। शेष पूर्ववत् है। यहाँ पदान्त में संयोग है, अतः उसके आदि स् का लोप हुआ है। तक्षू धातु के आदि 'क्' का लोप एवं ष्टुत्व होकर निष्ठा में तष्टः तष्टवान् एवं पूर्ववत् क्विप् में काष्ठ उपपद रहते *झलां जशोऽन्ते* (८।२।३९) से 'ष्' को जश्त्व 'ड्' एवं *वावसाने* से चर्त्व 'ट्' होकर 'काष्ठतट्' बना है॥

यहाँ से '*अन्ते* च' की अनुवृत्ति ८।२।३८ तक जायेगी॥

चोः कुः ॥८।२।३०॥

चोः ६।१॥ कुः १।१॥ *अनु०*—झलि, अन्ते च, पदस्य॥ *अर्थः*—चवर्गस्य स्थाने कवर्गादेशो भवति झलि परतः पदान्ते च॥ *उदा०*—झलि—पक्ता, पक्तुम्, पक्तव्यम्। वक्ता, वक्तुम्, वक्तव्यम्। पदान्ते—ओदनपक्, वाक्॥

भाषार्थः—[*चोः*] चवर्ग के स्थान में [*कुः*] कवर्ग आदेश होता है, झल् परे रहते, या पदान्त में॥ वाक् की सिद्धि परि० १।२।४१ में देखें। शेष सिद्धियाँ सुस्पष्ट ही हैं॥

हो ढः ॥८।२।३१॥

हः ६।१॥ ढः १।१॥ *अनु०*—झलि, अन्ते च, पदस्य॥ *अर्थः*—हकारस्य ढकारादेशो भवति झलि परतः पदान्ते च॥ *उदा०*—सोढा, सोढुम्, सोढव्यम्, वोढा, वोढुम् वोढव्यम्। पदान्ते—तुराषाट्, प्रष्ठवाट्, दित्यवाट्॥

भाषार्थः—[*हः*] हकार के स्थान में [*ढः*] ढकार आदेश होता है, झल् परे रहते या पदान्त में॥ सोढा वोढा आदि में *सहिवहोरो०* (६।३।११०) से धातु के अवर्ण को ओत् हुआ है, सिद्धि वहीं देखें। तुराषाट्, प्रष्ठवाट् की सिद्धि सूत्र ३।२।६३-६४ में देखें॥

यहाँ से '*हः*' की अनुवृत्ति ८।२।३५ तक जायेगी॥

दादेर्धातोर्घः ॥८।२।३२॥

दादेः ६।१॥ धातोः ६।१॥ घः ६।१॥ *स०*—दकार आदिर्यस्य स दादिस्तस्मात्' 'बहुव्रीहिः॥ *अनु०*—हः, झलि, अन्ते च, पदस्य॥ *अर्थः*—दकारादेर्धातोर्हकारस्य स्थाने घकारादेशो भवति झलि

परतः पदान्ते च ॥ उदा०—दह—दग्धा, दग्धुम्, दग्धव्यम्। दुह—दोग्धा, दोग्धुम्, दोग्धव्यम्। पदान्ते—काष्ठधक्, गोधुक्॥

भाषार्थः—[*दादेः*] दकार आदि में है जिन [*धातोः*] धातुओं उनके हकार के स्थान में [*घः*] घकार आदेश होता है, झल् परे रहते य पदान्त में॥ पूर्व सूत्र से ढकारादेश प्राप्त था, घकार विधान तदपवा है॥ गोधुक् की सिद्धि परि० ३।२।६१ में देखें। इसी प्रकार दह धा से क्विप् (३।२।७६) होकर काष्ठधक् बनेगा। दग्धा आदि में पूर्ववत *झषस्तथो०* (८।२।४०) से त् को ध् तथा *झलां जश् झशि* (८।४।५२) से घ् को जश्त्व ग् हुआ है। शेष कार्य तृजन्तादि सिद्धियों के समान हैं।

यहाँ से '*घः*' की अनुवृत्ति ८।२।३३ तक तथा '*धातोः*' की ८।२।३८ तक जायेगी॥

वा द्रुहमुहष्णुहष्णिहाम् ॥८।२।३३॥

वा अ०॥ द्रुह···हाम् ६।३॥ *स०*—द्रुहश्च मुहश्च ष्णुहश्च ष्णिह् च द्रुह···ष्णिहस्तेषाम्···इतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—धातोर्घः, हः, झलि, अन्ते च, पदस्य॥ *अर्थः*—द्रुह, मुह, ष्णुह, ष्णिह इत्येतेषां धातूनां हकारस्य स्थाने विकल्पेन घकारादेशो भवति झलि परतः पदान्ते च॥ *उदा०*—द्रुह्—द्रोग्धा, द्रोढा। मित्रध्रुक्, मित्रध्रुट्। मुह्—उन्मोग्धा, उन्मोढा। उन्मुक्, उन्मुट्। ष्णुह्—उत्स्नोग्धा, उत्स्नोढा। उत्स्नुक्, उत्स्नुट्। ष्णिह्—स्नेग्धा, स्नेढा। स्निक् स्निट्॥

भाषार्थः—[*द्रुह···ष्णिहाम्*] द्रुह, जिघांसायाम् मुह वैचित्त्ये, ष्णुह उद्गिरणे, ष्णिह प्रीतौ इन धातुओं के हकार के स्थान में [*वा*] विकल्प से घकारादेश होता है, झल् परे रहते तथा पदान्त में॥ द्रुह धातु दकारादि है, अतः उसे नित्य घत्व पूर्व सूत्र से प्राप्त था, तथा अन्य धातुओं को अप्राप्त ही था, विकल्प से विधान कर दिया। विकल्प कहने से पक्ष में यथाप्राप्त हो ढः (८।२।३१) से ढ होता है॥ घ करने पर पूर्ववत् द्रोग्धा आदि एवं ढ करने पर धत्व ष्टुत्वादि करके द्रोढा आदि रूप बनेंगे। मित्रध्रुक् की सिद्धि परि० ३।२।६१ में देखें। ढ करने पर मित्रध्रुट् भी इसी प्रकार बनेगा। सभी सिद्धियाँ इसी प्रकार हैं। पदान्त वाले उदाहरणों में सर्वत्र क्विप् (३।२।७६) हुआ जानें। ष्णुह, ष्णिह के ष् को

धात्वादेः षः सः (६।१।६२) से स् होता है, पश्चात् न् जो ष् के संयोग से ण् बना था उसे न् हो जायेगा ॥

नहो धः ॥८।२।३४॥

नहः ६।१॥ धः १।१॥ *अनु०*—धातोः, हः, झलि, अन्ते च, पदस्य ॥ *अर्थः*—नहो हकारस्य स्थाने धकारादेशो भवति झलि परतः पदान्ते च ॥ *उदा०*—नद्धम्, नद्धुम्, नद्धव्यम्। उपानत्, परीणत् ॥

भाषार्थः—[*नहः*] णह् बन्धने धातु के हकार को [*धः*] धकारादेश होता है, झल् परे रहते या पदान्त में ॥ *णो नः* (६।१।६३) से णह् के ण को न होता है। नध् त = त को *झषस्त०* (८।२।४०) से ध तथा *झलां जश्०* (८।४।५२) से पूर्व के ध् को जश्त्व द् होकर नद्धम् आदि रूप बन गये। उपानत् परीणत् की सिद्धि ६।३।११४ में देखें ॥

आहस्थः ॥८।२।३५॥

आहः ६।१॥ थः १।१॥ *अनु०*—धातोः, हः, झलि ॥ *अर्थः*—आहो हकारस्य थकारादेशो भवति झलि परतः ॥ *उदा०*—किमात्थ, इदमात्थ ॥

भाषार्थः—[*आहः*] आह के हकार के स्थान में [*थः*] थकारादेश होता है, झल् परे रहते ॥ आत्थ की सिद्धि परि० ३।४।८४ भाग १ में देखें ॥

व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशां षः ॥८।२।३६॥

व्रश्च...च्छशाम् ६।३॥ षः १।१॥ *स०*—व्रश्चश्च भ्रस्जश्च सृजश्च मृजश्च यजश्च राजश्च भ्राजश्च छश्च शश्च व्रश्च...शस्तेषाम्...इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—धातोः, झलि, अन्ते च, पदस्य ॥ *अर्थः*—ओव्रश्चू, भ्रस्ज, सृज, मृजूष्, यज, राजृ टुभ्राजृ, इत्येतेषां छकारान्तानां शकारान्तानाञ्च षकार आदेशो भवति झलि परतः पदान्ते च ॥ *उदा०*—ओव्रश्चू—व्रष्टा व्रष्टुम्, व्रष्टव्यम्, मूलवृट्। भ्रस्ज—भ्रष्टा, भ्रष्टुम्, भ्रष्टव्यम्, धानाभृट्। सृज—स्रष्टा, स्रष्टुम्, स्रष्टव्यम्, रज्जुसृट्। मृजूष्—मार्ष्टा, मार्ष्टुम्, मार्ष्टव्यम्, कंसपरिमृट्। यज—यष्टा, यष्टुम्, यष्टव्यम्, उपयट्। राजृ—सम्राट्, स्वराट्, विराट्। टुभ्राजृ—विभ्राट्। छकारान्तानाम्—प्रच्छ—प्रष्टा, प्रष्टुम्, प्रष्टव्यम्, शब्दप्राट्। शकारान्ता-

नाम्—लिश्—लेष्टा, लेष्टुम्, लेष्टव्यम्, लिट्। विश्—वेष्टा, वेष्टुम्, वेष्टव्यम्, विट्॥

भाषार्थः—[*व्रश्च...शाम्*] ओव्रश्चू, भ्रस्ज, सृज, मृजूष्, यज, राजृ, टुभ्राजृ इन धातुओं को तथा छकारान्त एवं शकारान्त धातुओं को भी झल् परे रहते एवं पदान्त में [षः] षकारादेश होता है॥ *अलोऽन्त्यस्य* (१।१।५१) से अन्त्य अल् को ष् सर्वत्र होगा॥ राज भ्राज का सूत्र में पदान्तार्थ ही ग्रहण है, अतः झल् परे का उदाहरण नहीं दिया॥ स्रष्टा की सिद्धि सूत्र ६।१।५७ में देखें। मार्ष्टा मार्ष्टुम्, मार्ष्टव्यम् में *मृजेर्वृद्धिः* (७।२।११४) से वृद्धि हुई है। शेष ष्टुत्वादि कार्य सबमें समान हैं। व्रष्टा यहाँ 'व्रश्च् तृच्' इस स्थिति में ऊदित् होने से जब पक्ष में इट् का अभाव (७।२।४४) रहा तो उस पक्ष में च् को षत्व कर लेने पर 'व्रस् ष् तृ' रहा। अर्थात् च् के हटने पर श्चुत्व हुआ जो श् उसको भी 'स' रह गया। *स्कोः संयो०* (८।२।२९) से अब इस स् का लोप, तथा शेष ष्टुत्वादि कार्य होकर व्रष्टा भ्रष्टा आदि रूप बन गये। मूलवृट् धानाभृट् में *ग्रहिज्या०* (६।१।१६) से व्रश्च भ्रस्ज को सम्प्रसारण एवं सलोप भी हुआ है॥ सम्राट् की सिद्धि परि० ३।२।६१ में देखें। तद्वत् स्वराट् आदि समझें। उपयट् की सिद्धि सूत्र ३।२।७३ में देखें। विभ्राट् की सिद्धि ३।२।१७७ में देखें। शब्दप्राट् की सिद्धि परि० ६।४।१९ में देखें॥ लिट् विट् में *अन्येभ्योऽपि०* (३।२।१७८) से क्विप् तथा मूलभृट् आदि में *क्विप् च* (३।२।७६) से क्विप् हुआ है॥

एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः ॥८।२।३७॥

एकाचः ६।१॥ बशः ६।१॥ भष् १।१॥ झषन्तस्य ६।१॥ स्ध्वोः ७।२॥ *स०*—एकोऽच् यस्मिन् स एकाच् तस्य ... बहुव्रीहिः। झष् अन्ते यस्य स झषन्तस्तस्य ... बहुव्रीहिः। सश्च ध्वश्च स्ध्वौ, तयोः ... इतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—धातोः, झलि, अन्ते च, पदस्य॥ *अर्थः*—धातोरवयवो य एकाच् झषन्तस्तदवयवस्य बशः स्थाने भष् आदेशो भवति, झलि सकारे ध्वशब्दे च परतः पदान्ते च। एकाच इत्यत्रावयवषष्ठी तेनावयवार्थः सम्पद्यते॥ उदा०—बुध्—भोत्स्यते, अभुद्ध्वम्, अर्थभुत्। गुहू—निघोक्ष्यते, न्यघूढ्वम्, पर्णघुट्। दुह्—धोक्ष्यते, अधुग्ध्वम्, गोधुक्। अजर्घाः। गर्द्धप्॥

भाषार्थः—धातु का अवयव जो [*एकाचः*] एक अच् वाला तथा [*झषन्तस्य*] झषन्त उसके (धातु के) अवयव [*बशः*] बश् के स्थान में [*भष्*] भष् आदेश होता है, झलादि [*स्ध्वोः*] सकार तथा झलादि ध्व शब्द के परे रहते एवं पदान्त में ॥ 'एकाचः' में अवयव षष्ठी है, अतः अवयव अर्थ सूत्रार्थ में निकल आता है ॥ सिद्धियाँ परिशिष्ट में देखें ॥

यहाँ से '*बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः*' की अनुवृत्ति ८।२।३८ तक जायेगी ॥

दधस्तथोश्च ॥८।२।३८॥

दधः ६।१॥ तथोः ७।२॥ च अ० ॥ *स०*—तश्च थश्च तथौ, तयोः··· इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः, धातोः, झलि ॥ *अर्थः*—दध इत्येतस्य झषन्तस्य बशः स्थाने भष् आदेशो भवति तकारथकारयोः परतश्चकारात् झलि सकारे ध्वशब्दे च परतः ॥ दध इति डुधाञ् इत्येतस्य कृतद्विर्वचनो निर्दिश्यते ॥ *उदा०*—धत्तः, धत्थः । धत्से, धत्स्व, धद्ध्वम् ॥

भाषार्थः—'दधः' यह डुधाञ् धातु का द्विर्वचन करके सूत्र में निर्देश है ॥ [*दधः*] दध जो झषन्त धातु उसके बश् के स्थान में भष् आदेश होता है [*तथोः*] तकार तथा थकार परे रहते [*च*] तथा झलादि सकार एवं ध्व परे रहते भी ॥ डुधाञ् को द्वित्व तथा अभ्यास को जश्त्व एवं धा के आ का *श्नाभ्यस्तयोरातः* (६।४।११२) से लोप होकर 'दध्' झषन्त है, सो बश् को भष् होकर धध् तस् रहा । *खरि च* से चर्त्व होकर धत्तः बन गया । थस् में धत्थः, एवं आत्मनेपद में थास् को से (३।४।८०) आदेश करके धत्से बना । लोट् में *सवाभ्यां वामौ* (३।४।९१) लगकर धत्स्व धद्ध्वम् बन गया । ध् को द् *झलां जश्०* (८।४।५२) से हो जायेगा ॥

झलां जशोऽन्ते ॥८।२।३९॥

झलाम् ६।३॥ जशः १।३॥ अन्ते ७।१॥ *अनु०*—पदस्य ॥ *अर्थः*—पदस्यान्ते वर्त्तमानानां झलां जश आदेशा भवन्ति ॥ *उदा०*—वागत्र, श्वलिडत्र, अग्निचिदत्र, त्रिष्टुबत्र ॥

भाषार्थः—पद के [*अन्ते*] अन्त में वर्त्तमान [*झलाम्*] झलों को [*जशः*] जश आदेश होता है ॥

झषस्तथोर्धोऽधः ॥८।२।४०॥

झषः ५।१॥ तथोः ६।२॥ धः १।१॥ अधः ५।१॥ *स०*—तथोरित्यत्रे-तरेतरद्वन्द्वः ॥ *अर्थः*—झष उत्तरयोस्तकारथकारयोः स्थाने धकार आदेशो भवति, डुधाञ् इत्येतं धातुं वर्जयित्वा ॥ *उदा०*—डुलभष्—लब्धा, लब्धुम्, लब्धव्यम्। अलब्ध, अलब्धाः। दुह्—दोग्धा, दोग्धुम्, दोग्धव्यम्। अदुग्ध, अदुग्धाः। लिह्—लेढा, लेढुम्, लेढव्यम्, अलीढ, अलीढाः। बुध—बोद्धा, बोद्धुम्, बोद्धव्यम्, अबुद्ध, अबुद्धाः ॥

भाषार्थः—[*झषः*] झष् (प्रत्याहार) से उत्तर [*तथोः*] तकार तथा थकार को [*धः*] धकार आदेश होता है किन्तु [*अधः*] डुधाञ् धातु से उत्तर धकारादेश नहीं होता ॥ अदुग्ध की सिद्धि परि० ३।१।६३ में देखें, तद्वत् थास् में अदुग्धाः एवं तृच् इत्यादि में दोग्धा आदि बने हैं। अबुद्ध की सिद्धि परि० १।२।११ में देखें, तद्वत् थास् में अबुद्धाः बनें। अलीढ अलीढाः (थास्) की सिद्धि सूत्र ७।३।७३ में देखें। लेढा आदि भी इसी प्रकार हैं। अलब्ध अलब्धाः भी अबुद्ध के समान ही जानें, तृच् इत्यादि में बोद्धा आदि की (धत्व जश्त्व करके) सिद्धियाँ जानें ॥

षढोः कः सि ॥८।२।४१॥

षढोः ६।२॥ कः १।१॥ सि ७।१॥ *स०*—षश्च ढश्च षढौ तयोः… इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अर्थः*—षकारढकारयोः स्थाने ककारादेशो भवति सकारे परतः ॥ *उदा०*—विष्—षकारस्य—वेक्ष्यति, अवेक्ष्यत्, विवक्षति। ढकारस्य—लिह्—लेक्ष्यति, अलेक्ष्यत्, लिलिक्षति ॥

भाषार्थः—[*षढोः*] षकार तथा ढकार के स्थान में [*कः*] क् आदेश होता है, [*सि*] सकार परे रहते ॥ विष् स्य ति = वेक् ष्य ति = वेक्ष्यति। लङ् में अवेक्ष्यत् तथा सन्नन्त में विवक्षति बनेगा। इसी प्रकार लिह् के ह् को *हो ढः* (८।२।३१) से ढत्व एवं सब कार्य होकर लेक्ष्यति आदि रूप बनें।

[*निष्ठाविकारप्रकरणम्*]

रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः ॥८।२।४२॥

रदाभ्याम् ५।२॥ निष्ठातः ६।१॥ नः १।१॥ पूर्वस्य ६।१॥ च अ० ॥ दः ६।१॥ *स०*—रश्च दश्च रदौ ताभ्याम्…इतरेतरद्वन्द्वः। निष्ठायाः

तकारः निष्ठात्, तस्य ''षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अर्थः—रेफदकाराभ्यामुत्तरस्य निष्ठातकारस्य स्थाने नकारादेशो भवति, तकारात् पूर्वस्य (निष्ठायाः) दकारस्य च स्थाने नत्वं भवति ॥ उदा०—रेफान्तात्—आस्तीर्णम्, विस्तीर्णम्। शॄ—विशीर्णम्। गॄ—निगीर्णम्। गुरी—अवगूर्णम्। दकारान्तात्—भिदिर्—भिन्नः, भिन्नवान्। छिदिर्—छिन्नः, छिन्नवान् ॥

भाषार्थः—[*रदाभ्याम्*] रेफ तथा दकार से उत्तर [*निष्ठातः*] निष्ठा के तकार को [*नः*] नकारादेश होता है, [*च*] तथा निष्ठा से [*पूर्वस्य*] पूर्व [*दः*] दकार को भी नकारादेश होता है ॥ आस्तीर्णम्, विस्तीर्णम् की सिद्धि सूत्र ७।१।१०० में देखें। तद्वत् विशीर्णम् निगीर्णम् में भी जानें। इसी प्रकार गुरी उद्यमने से अव गुर् न = अवगूर्णम् यहाँ केवल *आर्धधातु०* (७।२।३५) से प्राप्त इट् का *श्वीदितो निष्ठायाम्* (७।२।१४) से प्रतिषेध हुआ है, यही विशेष है। भिद् त = भिन् न = भिन्नः, छिन्नः ॥

यहाँ से '*निष्ठातो नः*' की अनुवृत्ति ८।२।६१ तक जायेगी ॥

संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः ॥८।२।४३॥

संयोगादेः ५।१॥ आतः ५।१॥ धातोः ५।१॥ यण्वतः ५।१॥ स०—संयोग आदिर्यस्य स संयोगादिस्तस्मात्'''बहुव्रीहिः ॥ यण् अस्यास्तीति यण्वान्, तस्मात्'' ॥ अनु०—निष्ठातो नः ॥ *अर्थः*—संयोगादिर्यो धातुराकारान्तो यण्वान् तस्मादुत्तरस्य निष्ठातकारस्य नकारादेशो भवति ॥ उदा०—द्रा-प्रद्राणः, प्रद्राणवान्। ग्लै-ग्लानः, ग्लानवान् ॥

भाषार्थः—[*संयोगादेः*] संयोग आदि में है जिनके ऐसे [*आतः*] आकारान्त एवं [*यण्वतः*] यण्वान् [*धातोः*] धातुओं से उत्तर निष्ठा के तकार को नकारादेश होता है ॥ ग्लै को *आदेच उप०* (६।१।४४) से आत्व कर लेने पर 'ग्ला' रहा। अब ग्ला एवं द्रा धातु संयोगादि आकारान्त तथा ल् र् के होने से यण्वान् भी हैं, अतः इनसे उत्तर निष्ठा के त को न हो गया। *कृत्यचः* (८।४।२८) से प्रद्राणः में णत्व हुआ है ॥

ल्वादिभ्यः ॥८।२।४४॥

ल्वादिभ्यः ५।३॥ स०—लूञ् आदिर्येषां ते ल्वादयस्तेभ्यः''' बहुव्रीहिः ॥ अनु०—निष्ठातो नः ॥ *अर्थः*—ल्वादिभ्य उत्तरस्य

निष्ठातकारस्य स्थाने नकारादेशो भवति ॥ उदा०—लूञ्—लूनः, लूनवान् । धूञ्—धूनः, धूनवान् । ज्या—जीनः, जीनवान् ॥

भाषार्थः—[*ल्वादिभ्यः*] लूञ् इत्यादि धातुओं से उत्तर निष्ठा के तकार को नकारादेश होता है ॥ धातुपाठ में पढ़े लूञ् छेदने से लेकर वृञ् वरणे तक ल्वादि धातु मानी गई हैं ॥ जीनः की सिद्धि परि० ६।१।१६ में देखें ॥

ओदितश्च ॥८।२।४५॥

ओदितः ५।१॥ च अ० ॥ *स०*—ओत् इत् यस्य स ओदित् तस्मात्''बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—निष्ठातो नः ॥ *अर्थः*—ओदितो धातोरुत्तरस्य निष्ठातकारस्य नकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—ओलस्जी—लग्नः, लग्नवान् । ओविजी—उद्विग्नः, उद्विग्नवान् । ओप्यायी—आपीनः, आपीनवान् ॥

भाषार्थः—[*ओदितः*] ओकार इत् वाले धातुओं से उत्तर [च] भी निष्ठा के त् को नकारादेश होता है ॥ ओप्यायी के प्या को *प्यायः पी* (६।१।२८) से पी आदेश होकर पीनः पीनवान् बना है । लग्नः उद्विग्नः आदि की सिद्धि सूत्र ७।२।१४ में देखें ॥

क्षियो दीर्घात् ॥८।२।४६॥

क्षियः ५।१॥ दीर्घात् ५।१॥ *अनु०*—निष्ठातो नः ॥ *अर्थः*—दीर्घात् क्षियो धातोरुत्तरस्य निष्ठातकारस्य नकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—क्षीणाः क्लेशाः, क्षीणो जाल्मः, क्षीणस्तपस्वी ॥

भाषार्थः—[*दीर्घात्*] दीर्घ [*क्षियः*] क्षि धातु से उत्तर निष्ठा के तकार को नकारादेश होता है ॥ क्षीणाः क्लेशाः में *निष्ठायाम०* (६।४।६०) से तथा क्षीणो जाल्मः आदि में *वाऽक्रोशदै०* (६।४।६१) से क्षि धातु को दीर्घ होता है । सिद्धियाँ वहीं देखें ॥

श्योऽस्पर्शे ॥८।२।४७॥

श्यः ५।१॥ अस्पर्शे ७।१॥ *स०*—न स्पर्शोऽस्पर्शस्तस्मिन्''नञ्-तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—निष्ठातो नः ॥ *अर्थः*—श्यैङो धातोरुत्तरस्य निष्ठातकारस्य नकारादेशो भवति, अस्पर्शेऽर्थे ॥ *उदा०*—शीनं घृतम् । शीनं मेदः । शीना वसा ॥

भाषार्थः—[*श्यः*] श्यैङ् धातु से उत्तर निष्ठा के तकार को नकारादेश होता है [*अस्पर्शे*] स्पर्श अर्थ को छोड़कर ॥ सिद्धि सूत्र ६।१।२४ में देखें ॥

अञ्चोऽनपादाने ॥८।२।४८॥

अञ्चः ५।१॥ अनपादाने ७।१॥ *स०*—न अपादानमनपादानं तस्मिन्''' नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—निष्ठातो नः ॥ *अर्थः*—अञ्चु इत्येतस्माद् धातोरुत्तरस्य निष्ठातकारस्य नकारादेशो भवति, न चेदपादानं तत्र स्यात् ॥ *उदा०*—समक्नौ शकुनेः पादौ । तस्मात् पशवो न्यक्नाः ॥

भाषार्थः—[*अञ्चः*] अञ्चु धातु से उत्तर निष्ठा के तकार को नकारादेश होता है, यदि अञ्चु के विषय में [*अनपादाने*] अपादान कारक का प्रयोग न हो रहा हो तो ॥ समक्नः अर्थात् सङ्गत । समक्नौ, न्यक्नाः में अञ्चु के अनुनासिक का *अनिदितां०* (६।४।२४) से लोप तथा *यस्य विभाषा* (७।२।१५) से इट् प्रतिषेध होता है ॥ नि अच् त = न्यच् त = *चोः कुः* (८।२।३०) से च् को क् होकर न्यक् त = नत्व होकर न्यक्न जस् = न्यक्नाः, समक्नौ बना ॥

दिवोऽविजिगीषायाम् ॥८।२।४९॥

दिवः ५।१॥ अविजिगीषायाम् ७।१॥ *स०*—न विजिगीषा अविजिगीषा, तस्याम्''' नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—निष्ठातो नः ॥ *अर्थः*—दिव उत्तरस्य निष्ठातकारस्य नकारादेशो भवति, अविजिगीषायामर्थे ॥ *उदा०*—आद्यूनः, परिद्यूनः ॥

भाषार्थः—[*दिवः*] दिव् धातु से उत्तर [*अविजिगीषायाम्*] अविजिगीषा अर्थ में निष्ठा के तकार को नकारादेश होता है ॥ विजिगीषा जीतने की इच्छा को कहते हैं, सो उससे भिन्न अविजिगीषा है ॥ दिवु धातु से आद्यूनः (खूब खाऊ = पेटू) परिद्यूनः (क्षीण पेट वाला) की सिद्धि में *च्छ्वोः शूड०* (६।४।१९) से वकार को ऊठ् हुआ है, सिद्धि प्रकार वहीं देख लें ॥

निर्वाणोऽवाते ॥८।२।५०॥

निर्वाणः १।१॥ अवाते ७।१॥ *स०*—न वातोऽवातस्तस्मिन्''' नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—निष्ठातो नः ॥ *अर्थः*—निस्पूर्वात् वाधातोरुत्तरस्य

निष्ठातकारस्य नकारो निपात्यते वातश्चेदभिधेयो न भवति ॥ *उदा०*— निर्वाणोऽग्निः, निर्वाणः प्रदीपः, निर्वाणो भिक्षुः ॥

भाषार्थः—निस् पूर्वक वा धातु से उत्तर निष्ठा के तकार को नका [*निर्वाणः*] निर्वाण शब्द में [*अवाते*] वात अभिधेय न होने पर निपा तित है ॥ *उदा०*—निर्वाणोऽग्निः (शान्त हो गया = बुझ गया) यह वात अर्थ अभिधेय नहीं है, वात अर्थ अभिधेय होने पर निर्वातो वात (वायु शान्त हो गई) में नत्व नहीं होता ॥

शुषः कः ॥८।२।५१॥

शुषः ५।१॥ कः १।१॥ *अनु०*—निष्ठातः ॥ *अर्थः*—शुष इत्येतस्माद् धातोरुत्तरस्य निष्ठातकारस्य स्थाने ककार आदेशो भवति ॥ *उदा०*— शुष्कः, शुष्कवान् ॥

भाषार्थः—[*शुषः*] शुष शोषणे धातु से उत्तर निष्ठा के तकार को [*कः*] ककारादेश होता है ॥

पचो वः ॥८।२।५२॥

पचः ५।१॥ वः १।१॥ *अनु०*—निष्ठातः ॥ *अर्थः*—डुपचष् पाके इत्येतस्माद्धातोरुत्तरस्य निष्ठातकारस्य वकारादेशो भवति ॥ *उदा०*— पक्वः, पक्ववान् ॥

भाषार्थः—[*पचः*] डुपचष् धातु से उत्तर निष्ठा के तकार को [*वः*] वकारादेश होता है ॥ चोः कुः (८।२।३०) लगकर पक्वः पक्ववान् बनेगा ॥

क्षायो मः ॥८।२।५३॥

क्षायः ५।१॥ मः १।१॥ *अनु०*—निष्ठातः ॥ *अर्थः*—क्षैधातोरुत्तरस्य निष्ठातकारस्य स्थाने मकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—क्षामः, क्षामवान् ॥

भाषार्थः—[*क्षायः*] क्षै धातु से उत्तर निष्ठा के तकार को [*मः*] मकारादेश होता है ॥ *आदेच उपदेशे०* (६।१।४४) से आत्व होकर क्षामः, क्षामवान् बन गया ॥

यहाँ से '*मः*' की अनुवृत्ति ८।२।५४ तक जायेगी ॥

प्रस्त्योऽन्यतरस्याम् ॥८।२।५४॥

प्रस्त्यः ५।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ *स०*—प्रपूर्वः स्त्याः प्रस्त्याः

तस्मात्‌···तत्पुरुषः ॥ अनु०—मः, निष्ठातः ॥ अर्थः—प्रपूर्वात् स्त्यै इत्येतस्माद्धातोरुत्तरस्य निष्ठातकारस्य विकल्पेन मकारादेशो भवति ॥ उदा०—प्रस्तीमः, प्रस्तीमवान् । पक्षे-प्रस्तीतः, प्रस्तीतवान् ॥

भाषार्थः—[प्रस्त्यः] प्रपूर्वक स्त्यै धातु से उत्तर [अन्यतरस्याम्] विकल्प से निष्ठा के तकार को मकारादेश होता है ॥ सिद्धियाँ सूत्र ६।१।२३ में देखें ॥

अनुपसर्गात् फुल्लक्षीबकृशोल्लाघाः ॥८।२।५५॥

अनुपसर्गात् ५।१॥ फुल्ल···ल्लाघाः १।३॥ स०—न उपसर्गोऽनुपसर्गस्तस्मात्‌···नञ्तत्पुरुषः । फुल्ल॰ इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—निष्ठातः ॥ अर्थः—अनुपसर्गादुत्तराः फुल्ल, क्षीब, कृश उल्लाघ इत्येते शब्दा निपात्यन्ते ॥ फुल्ल इत्यत्र ञिफला विशरणे इत्येतस्माद्धातोरुत्तरस्य क्तप्रत्ययस्य तकारस्य लत्वं निपात्यते । क्षीब, कृश, उल्लाघ इत्यत्र क्रमेण क्षीबकृशिभ्यामुत्पूर्वाच्च लाघेः क्तप्रत्ययस्य तकारलोप इडागमाभावश्च निपात्यते ॥ उदा०—फुल्लः, क्षीबः, कृशः, उल्लाघः ॥

भाषार्थः—[अनुपसर्गात्] अनुपसर्ग से उत्तर [फुल्लक्षीबकृशोल्लाघाः] फुल्ल, क्षीब, कृश तथा उल्लाघ शब्द निपातन किये जाते हैं ॥ ञिफला धातु से उत्तर क्त को लत्व फुल्ल शब्द में निपातित है । फल् ल = यहाँ ति च (७।४।८९) से फ के अ को उत्व होकर फुल्लः बन गया । आदितश्च (७।२।१६) से यहाँ इट् आगम का अभाव भी होता है ॥ क्षीब कृश उल्लाघ यहाँ क्रमशः क्षीबृ कृश तथा उत् पूर्वक लाघ धातु से उत्तर क्त प्रत्यय के त् का लोप एवं त् लोप के पूर्वत्रासिद्धम् (८।२।१) से इट् आगम की दृष्टि में असिद्ध हो जाने से जो आर्धधातुक० (७।२।३५) से इट् आगम प्राप्त है उसका अभाव भी निपातन है । अथवा यहाँ इट् आगम करके 'इत्' भाग का लोप भी निपातन किया जा सकता है । क्षीब् इ त = क्षीब् अ = क्षीबः आदि बन गये । उल्लाघः में त् को ल् तोर्लि (८।४।५९) से हुआ है ॥

नुदविदोन्दत्राघ्राह्रीभ्योऽन्यतरस्याम् ॥८।२।५६॥

नुद···भ्यः ५।३॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ स०—नुदश्च विदश्च उन्दश्च त्राश्च घ्राश्च ह्रीश्च नुद···ह्रियस्तेभ्यः···इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—निष्ठातो

नः ॥ *अर्थः*—नुद प्रेरणे, विद विचारणे, उन्दी क्लेदने, त्रैङ् पालने, घ्रा गन्धोपादाने, ह्री लज्जायाम् इत्येतेभ्यो धातुभ्य उत्तरस्य विकल्पेन निष्ठातकारस्य नकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—नुद—नुन्नः, नुत्तः विद—विन्नः, वित्तः । उन्दी—समुन्नः, समुत्तः । त्रा—त्राणः, त्रातः घ्रा—घ्राणः, घ्रातः । ह्री—ह्रीणः, ह्रीतः । क्तवतु—नुन्नवान्, नुत्तवान् विन्नवान्, वित्तवान् । समुन्नवान्, समुत्तवान् । त्राणवान्, त्रातवान् । घ्राणवान्, घ्रातवान् । ह्रीणवान्, ह्रीतवान् ॥

भाषार्थः—[*नुद*···*ह्रीभ्यः*] नुद, विद, उन्दी, त्रैङ्, घ्रा, ह्री इन धातुओं से उत्तर [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प से निष्ठा के तकार को नकारादेश होता है ॥ समुन्नः समुत्तः में *अनिदितां हल०* (६।४।२४) से अनुनासिक लोप होता है ॥ नुद, विद एवं उन्दी को *रदाभ्यां निष्ठातो०* (८।२।४२) से तथा त्रा (त्रैङ् को *आदेच उप०* ६।१।४४ से आत्व करके) घ्रा को *संयोगादेरातो०* (८।२।४३) से नित्य नत्व प्राप्त था, विकल्प कर दिया किन्तु ह्री को अप्राप्त ही विकल्प कहा है ॥

न ध्याख्यापॄमूर्च्छिमदाम् ॥८।२।५७॥

न अ० ॥ ध्या···मदाम् ६।३॥ *स०*—ध्यैश्च ख्याश्च पॄ च मूर्च्छिश्च मद् च ध्या···मदस्तेषां···इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—निष्ठातो नः ॥ *अर्थः*—ध्यै चिन्तायाम्, ख्या प्रकथने, (ख्याञ् आदेशोऽपि गृह्यते) पॄ पालनपूरणयोः, मुर्च्छा मोहसमुच्छ्राययोः, मदी हर्षे इत्येतेषां धातूनां निष्ठातकारस्य नकारादेशो न भवति ॥ *उदा०*—ध्यातः, ध्यातवान् । ख्यातः, ख्यातवान् । पूर्त्तः, पूर्त्तवान् । मूर्त्तः, मूर्त्तवान् । मत्तः, मत्तवान् ॥

भाषार्थः—[*ध्या*···*मदाम्*] ध्यै, ख्या, पॄ मुर्च्छा, मदी इन धातुओं के निष्ठा के तकार को नकार आदेश [न] नहीं होता ॥ ख्या से यहाँ ख्या प्रकथने धातु एवं *चक्षिङः ख्याञ्* (२।४।५४) से किया हुआ ख्याञ् आदेश दोनों का ग्रहण है ॥ ध्या ख्या को *संयोगादे०* (८।२।४३) से निष्ठा को नत्व प्राप्त था, एवं अन्यों को *रदाभ्यां निष्ठातो०* (८।२।४२) से प्राप्त था निषेध कर दिया । मुर्च्छ् के छ् का *राल्लोपः* (६।४।२१) से लोप कर देने के पश्चात् 'मुर्' रेफान्त हो जाता है, तब *रदाभ्यां०* से नत्व प्राप्ति होती है, उसका निषेध हो गया । सिद्धि ६।४।२१ सूत्र पर ही देख लें ।

पूर्त्तः, पूर्त्तवान् में उदोष्ठ्य० (७।१।१०२) से पॄ को उत्व *श्र्युकः किति* (७।२।११) से इट् निषेध तथा *हलि च* (८।२।७७) से दीर्घत्व होता है। पॄ त = पुर् त = पूर्त्तः *अचो रहा०* (८।४।४५) से त् को द्वित्व होकर बन गया। मत्तः मत्तवान् में भी *श्वीदितो०* (७।२।१४) से इट् प्रतिषेध होता है, ऐसा जानें॥

यहाँ से 'न' की अनुवृत्ति ८।२।६१ तक जायेगी॥

वित्तो भोगप्रत्ययोः ॥८।२।५८॥

वित्तः १।१॥ भोगप्रत्ययोः ७।२॥ *स०*—भोग० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—न, निष्ठातो नः॥ *अर्थः*—वित्त इत्यत्र विद्लृ लाभे इत्येतस्मादुत्तरस्य क्तस्य नत्वाभावो निपात्यते, भोगे प्रत्यये चाभिधेये॥ भुज्यते इति भोगः। प्रतीयते इति प्रत्ययः॥ *उदा०*—भोगे—वित्तमस्य बहु। प्रत्यये—वित्तोऽयं मनुष्यः॥

भाषार्थः—[*वित्तः*] वित्त शब्द में विद्लृ लाभे धातु से उत्तर क्त प्रत्यय के नत्व का अभाव [*भोगप्रत्ययोः*] भोग तथा प्रत्यय (प्रतीति) अभिधेय होने पर निपातित है॥ *रदाभ्यां०* (८।२।४२) से नत्व प्राप्ति थी अभाव निपातन कर दिया॥ वित्तमस्य बहु = अर्थात् इसके पास धन बहुत है। धन का जो उपयोग किया जाता है, अतः वह उसका भोग है। वित्तोऽयं मनुष्यः = अर्थात् यह मनुष्य प्रतीत = ज्ञात है। यहाँ भी मनुष्य प्रतीत किया जाता है, अतः वह प्रत्यय है ऐसा जानें॥

भित्तं शकलम् ॥८।२।५९॥

भित्तम् १।१॥ शकलम् १।१॥ *अनु०*—न, निष्ठातो नः॥ *अर्थः*—भित्तमिति भिदेरुत्तरस्य क्तस्य नत्वाभावो निपात्यते शकलं चेत्तद्भवति॥ *उदा०*—भित्तं तिष्ठति, भित्तं प्रपतति॥

भाषार्थः—[*भित्तम्*] भित्तम् शब्द में भिदिर् धातु से उत्तर क्त के नत्व का अभाव निपातन है, यदि भित्तम् से [*शकलम्*] शकल = खण्ड टुकड़ा कहा जा रहा हो तो॥ पूर्ववत् ही नत्व प्राप्त था अभाव कर दिया॥ भित्तं तिष्ठति अर्थात् टुकड़ा रखा है॥

ऋणमाधमर्ण्ये ॥८।२।६०॥

ऋणम् १।१॥ आधमर्ण्ये ७।१॥ *स०*—अधमः ऋणे = अधमर्णः

सप्तमीतत्पुरुषः । अस्मादेव निपातनादत्र सप्तम्यन्तस्य परनिपातः ॥ अधमर्णस्य भावः आधमर्ण्यम् तस्मिन् ''ब्राह्मणादित्वात् ष्यञ्प्रत्ययः ॥ अनु०—निष्ठातो नः ॥ *अर्थः*—ऋणमित्यत्र ऋ इत्येतस्माद्धातोरुत्तरस्य क्तस्य नत्वं निपात्यते, आधमर्ण्ये विषये ॥ उदा०—ऋणं ददाति, ऋणं धारयति ॥

भाषार्थः—[*ऋणम्*] ऋणम् शब्द में ऋ धातु से उत्तर क्त के तकार को नकारादेश निपातन है [*आधमर्ण्ये*] आधमर्ण्य विषय में ॥ कर्जे लेने वाले का ही ऋण अधम = दुःखद होने से आधमर्ण्य कहलाता है। ऋणम् में नत्व कर लेने पर णत्व *ऋवर्णाच्चेति*० (वा० ८।४।१) से हो ही जायेगा ॥

नसत्तनिषत्तानुत्तप्रतूर्त्तसूर्त्तगूर्त्तानि छन्दसि ॥८।२।६१॥

नसत्त''गूर्त्तानि १।३॥ छन्दसि ७।१॥ स०—नसत्तञ्च निषत्तञ्च अनुत्तञ्च प्रतूर्त्तञ्च सूर्त्तञ्च गूर्त्तञ्च नसत्त''गूर्त्तानि, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—न, निष्ठातो नः ॥ *अर्थः*—नसत्त, निषत्त, अनुत्त, प्रतूर्त्त, सूर्त्त, गूर्त्त इत्येतानि शब्दरूपाणि छन्दसि विषये निपात्यन्ते ॥ नसत्त निषत्त इत्यत्र सदेर्नञ्पूर्वान्निपूर्वाच्च नत्वाभावो निपात्यते। अनुत्तमिति उन्देर्नञ्पूर्वात् नत्वाभावो निपात्यते। प्रतूर्त्तमिति प्रपूर्वात् त्वरतेः, तुर्वी इत्येतस्माद्वा पूर्ववत् नत्वाभावो निपात्यते। सूर्त्तमिति सृ इत्येतस्य उत्वं नत्वाभावश्च निपात्यते। गूर्त्तमिति गुरी इत्येतस्मात् पूर्ववत् नत्वाभावो निपात्यते ॥ उदा०—नसत्तमञ्जसा। नसन्नमिति भाषायाम् ॥ निषत्तमस्य चरतः (ऋ० १।१४६।१) निषण्णमिति भाषायाम्। अनुत्तमा ते मघवन् (ऋ० १।१६५।९), अनुन्नमिति भाषायाम्। प्रतूर्त्तं वाजिन्, (यजु० ११।१२) प्रतूर्णमिति भाषायाम्। सूर्त्ता गावः। सृता गाव इति भाषायाम्। गूर्त्ता अमृतस्य। गूर्णमिति भाषायाम् ॥

भाषार्थः—[*नसत्त''''गूर्त्तानि*] नसत्त, निषत्त, अनुत्त, प्रतूर्त्त, सूर्त्त गूर्त्त ये शब्द [*छन्दसि*] वेद विषय में निपातन किये जाते हैं ॥ नसत्त निषत्त यहाँ क्रमशः नञ्पूर्वक एवं निपूर्वक षद्लृ धातु से क्त के नत्व का अभाव निपातन है। षद्लृ के ष को *धात्वादेः*० (६।१।६२) से स हुआ है। निषत्तम् में *सदिरप्रतेः* (८।३।६६) से षत्व होता है ॥ अनुत्तम् यहाँ नञ्पूर्वक उन्दी के क्त को नत्वाभाव निपातन है।

अनिदितां हल० (६।४।२४) से न् लोप भी यहाँ होता है, चर्त्व होकर द् को त् सर्वत्र हो ही जायेगा ॥ प्रतूर्त्तम् यहाँ भी ञित्वरा अथवा तुर्वी धातु के क्त का नत्वाभाव निपातन है। त्वर से निपातन मानने पर *ज्वरत्वर* (६।४।२०) से व् एवं उपधा 'अ' को ऊठ् होकर प्रतूर्त्तः बन गया, तथा तुर्वी से मानने पर *राल्लोपः* (६।४।२१) से व् का लोप एवं दीर्घत्व (८।२।७७) हो जायेगा ॥ सूर्त्तम् यहाँ सृ धातु को उत्व एवं नत्वाभाव निपातन है। सुर् त = पूर्ववत् दीर्घत्व करके सूर्त्तम् बना ॥ गूर्त्तम् यहाँ गुरी धातु के क्त के नत्व का अभाव निपातन है ॥ सर्वत्र जहाँ २ नत्वाभाव निपातन है, वहाँ २ *रदाभ्यां निष्ठातो०* (८।२।४२) से नत्व प्राप्ति थी, अभाव कह दिया ॥

क्विन्प्रत्ययस्य कुः ॥८।२।६२॥

क्विन्प्रत्ययस्य ६।१॥ कुः १।१॥ *स०*—क्विन् प्रत्ययो यस्मात् (धातोः) स क्विन्प्रत्ययस्तस्य ''बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—पदस्य ॥ *अर्थः*—क्विन्प्रत्ययस्य पदस्य कवर्गादेशो भवति ॥ *उदा०*—घृतस्पृक्, हलस्पृक्, मन्त्रस्पृक् ॥

भाषार्थः—[*क्विन्प्रत्ययस्य*] क्विन् प्रत्यय हुआ है जिस धातु से उस पद को [*कुः*] कवर्गादेश होता है ॥ *अलोऽन्त्यस्य* (१।१।५१) से अन्त्य अल् को ही कवर्गादेश होता है ॥ सिद्धियाँ परि० १।२।४१ में देखें ॥

यहाँ से 'कुः' की अनुवृत्ति ८।२।६३ तक जायेगी ॥

नशेर्वा ॥८।२।६३॥

नशेः ६।१॥ वा अ० ॥ *अनु०*—कुः, पदस्य ॥ *अर्थः*—नशेः पदस्य वा कवर्गादेशो भवति ॥ *उदा०*—सा वै जीवनग् आहुतिः। सा वै जीवनड् आहुतिः ॥

भाषार्थः—[*नशेः*] नश् पद को [*वा*] विकल्प से कवर्गादेश होता है ॥ पूर्ववत् अन्त्य अल् को कवर्ग होगा ॥ णश अदर्शने धातु से *सम्पदादिभ्यः क्विप्* (वा० ३।३।९४) इस वार्त्तिक से भाव में क्विप् होकर, पक्ष में कुत्व, तथा पक्ष में *व्रश्चभ्रस्ज०* (८।२।३६) से षत्व एवं जश्त्व (८।२।३९) चर्त्व होकर नक् नट् बना, पश्चात् जीवस्य नाशो जीवनग्, जीवनड् आहुतिः षष्ठी समास हो गया ॥

मो नो धातोः ॥८।२।६४॥

मः ६।१॥ नः १।१॥ धातोः ६।१॥ अनु०—पदस्य ॥ *अर्थः*—मकारान्तस्य धातोः पदस्य नकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—प्रशान्, प्रतान्, प्रदान् ॥

भाषार्थः—[*मः*] मकारान्त [*धातोः*] धातु पद को [*नः*] नकारादेश होता है ॥ अन्त्य अल् को यहाँ भी न् होगा । सिद्धि सूत्र ६।४।१५ में देखें ॥

यहाँ से '*मो नो धातोः*' की अनुवृत्ति ८।२।६५ तक जायेगी ॥

म्वोश्च ॥८।२।६५॥

म्वोः ७।२॥ च अ० ॥ *स०*—मश्च वश्च म्वौ, तयोः ‥इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—मो नो धातोः ॥ *अर्थः*—मकारे वकारे च परतो मकारान्तस्य धातोर्नकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—अगन्म तमसः पारम् । अगन्व । जगन्वान् ॥

भाषार्थः—[*म्वोः*] मकार तथा वकार परे रहते [*च*] भी मकारान्त धातु को नकारादेश होता है ॥ अपदान्तार्थ इस सूत्र का आरम्भ है ॥ गम् धातु से लङ् मस् वस् में *बहुलं छन्दसि* (२।४।७३) से शप् का लुक् तथा *स उत्तमस्य* (३।४।९८) से सकार लोप तथा नत्व होकर अगन्म, अगन्व बन गया । जगन्वान् की सिद्धि सूत्र ७।२।६८ में देखें । क्वसु होकर द्वित्व अभ्यास कार्य करके ज गम् वान् = जगन्वान् बन गया ॥

ससजुषो रुः ॥८।२।६६॥

ससजुषोः ६।२॥ रुः १।१॥ *स०*—सश्च सजुष् च ससजुषौ तयोः‥‥ इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—पदस्य ॥ *अर्थः*—सकारान्तस्य पदस्य सजुष् इत्येतस्य च रुर्भवति ॥ *उदा०*—सकारान्तस्य—अग्निरत्र, वायुरत्र । सजुषः—सजूर्ऋषिभिः, सजूर्देवेभिः ॥

भाषार्थः—[*ससजुषोः*] सकारान्त पद को तथा सजुष् पद को [*रुः*] रु आदेश होता है ॥ पूर्ववत् अन्त्य अल् को रुत्व होगा ॥ अग्नि सु = अग्नि स् अत्र = अग्निर् अत्र = अग्निरत्र । *सुप्तिङन्तं पदम्* (१।४।१४) से 'अग्निस्' की पद संज्ञा है । सह जुषते इति सजुष् यहाँ क्विप् (३।२।७६)

प्रत्यय, तथा *सहस्य सः०* (६।३।७६) से सह को सभाव हुआ है। पश्चात् रुत्व होकर *र्वोरुपधाया०* (८।२।७६) से दीर्घ करके 'सजूर्' बन गया॥ सजुष् सकारान्त नहीं, अतः इसका पृथक् सूत्र में ग्रहण है॥ यह सूत्र जश्त्व का अपवाद है॥

यहाँ से '*रुः*' की अनुवृत्ति ८।२।७१ तक जायेगी॥

अवयाःश्वेतवाःपुरोडाश्च ॥८।२।६७॥

अवयाः, श्वेतवाः, पुरोडाः, सर्वाणि अनुकरणरूपाणि प्रथमान्तानि पदानि॥ च अ०॥ *अनु०*—पदस्य॥ *अर्थः*—अवयाः, श्वेतवाः, पुरोडाः इत्येते कृतदीर्घाः निपात्यन्ते, सम्बुद्धौ॥ *उदा०*—हे अवयाः, हे श्वेतवाः, हे पुरोडाः॥

भाषार्थः—[*अवयाः...डाश्च*] अवयाः, श्वेतवाः [च] तथा पुरोडाः ये शब्द दीर्घ किये हुये सम्बुद्धि में निपातन हैं॥ श्वेतवाः, पुरोडाः (प्रथमा एकवचन में) की सिद्धि सूत्र ३।२।७१ में तथा 'अवयाः' की सूत्र ३।२।७२ में की है। यहाँ सम्बुद्धि का सु परे है, एवं वहाँ प्रथमा एकवचन का सु परे था, यही अन्तर है। इस प्रकार यहाँ सम्बुद्धि में भी सिद्धि प्रक्रिया सम्पूर्ण वही रहेगी, केवल सम्बुद्धि परे रहते *अत्वसन्तस्य०* (६।४।१४) से उपधा दीर्घत्व प्राप्त नहीं था, क्योंकि वहाँ 'असम्बुद्धौ' की अनुवृत्ति है, अतः यहाँ दीर्घत्व करने के लिये ही निपातन किया है, शेष सब सिद्ध ही है॥

अहन् ॥८।२।६८॥

अहन् लुप्तषष्ठ्यन्तनिर्देशः॥ *अनु०*—रुः, पदस्य॥ *अर्थः*—अहन् इत्येतस्य पदस्य रुर्भवति॥ *उदा०*—अहोभ्याम्, अहोभिः। दीर्घाहा निदाघः। हे दीर्घाहोऽत्र॥

भाषार्थः—[*अहन्*] अहन् पद को (अन्त्य अल् को) रु होता है॥ अहन् भ्याम् = अहरु भ्याम् = *हशि च* (६।१।११०) *आद् गुणः* (६।१।८४) लगकर अहोभ्याम् अहोभिः बन गया। दीर्घाणि अहानि यस्मिन् स दीर्घाहा निदाघः (ग्रीष्म काल) यहाँ बहुव्रीहि समास करके 'दीर्घाहन् सु' रहा। रुत्व दीर्घत्व (६।४।८) तथा हल्ङ्यादि लोप करके दीर्घाहार् रहा। रुत्व असिद्ध होने से *सर्वनामस्थाने०* (६।४।८) से दीर्घत्व हो ही जायेगा।

पश्चात् निदाघ परे रहते *भोभगोऽघो०* (८।३।१७) एवं *हलि सर्वेषाम्* (८।३।२२) लगकर दीर्घाहा निदाघः बन गया। दीर्घाहोऽत्र में *अतो रोर०* (६।१।१०६) से रु को उत्व एवं *आद् गुणः* (६।१।८४) से गुण एकादेश होगा। शेष सब पूर्ववत् है ॥

यहाँ से 'अहन्' की अनुवृत्ति ८।२।६६ तक जायेगी ॥

रोऽसुपि ॥८।२।६९॥

रः १।१॥ असुपि ७।१॥ *स०*—न सुप् असुप् तस्मिन्''''नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—अहन् ॥ *अर्थः*—अहन् इत्येतस्य रेफादेशो भवति, असुपि परतः ॥ *उदा०*—अहर्ददाति, अहर्भुङ्क्ते ॥

भाषार्थः—अहन् को [रः] रेफ आदेश होता है [*असुपि*] सुप् परे न हो तो ॥ 'अहन् सु' यहाँ हल्ङ्यादि लोप करके अहन् ददाति रहा। अब न् को असुप् परे होने से रेफ होकर अहर्ददाति बन गया ॥ पूर्व सूत्र का यह अपवाद है। रु करने पर *हशि च* (६।१।११०) से उत्व प्राप्त होता था, वह रेफ विधान करने पर नहीं होगा, यही भेद है ॥ 'रः' में अकार उच्चारणार्थ है ॥ अह यहाँ प्रत्ययलक्षण से सुप् (सु) परे होना सम्भव है उसकी निवृत्ति *अह्नो रविधौ लुमता लुप्ते प्रत्ययलक्षणं न भवति* (भा० वा० १।१।६२) से प्रत्ययलक्षण का प्रतिषेध हो जाने से होती है ॥

यहाँ से 'रः' की अनुवृत्ति ८।२।७१ तक जायेगी ॥

अम्नरूधरवरित्युभयथा छन्दसि ॥८।२।७०॥

अम्न''''वर् लुप्तषष्ठ्यन्तनिर्देशः ॥ इति अ० ॥ उभयथा अ० ॥ छन्दसि ७।१॥ *स०*—अम्नश्च ऊधश्च अवश्च अम्नरूधरवर् तस्य''' समाहारद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—रः, रुः, पदस्य ॥ *अर्थः*—अम्नस्, ऊधस्, अवस् इत्येतेषां पदानां छन्दसि विषये उभयथा भवति, रुर्वा रेफो वा इत्यर्थः ॥ *ससजुषो रुः* इत्यनेन नित्यं रुत्वे प्राप्ते पक्षे रेफादेशार्थमिदम् ॥ *उदा०*—अम्न एव, अम्नरेव। ऊधस्—ऊध एव, ऊधरेव। अवस्—अव एव, अवरेव ॥

भाषार्थः—[*अम्न''''वर्*] अम्नस्, ऊधस्, अवस् [*इति*] इन पदों को [*छन्दसि*] वेद विषय में [*उभयथा*] दोनों प्रकार से अर्थात् रु, एवं रेफ दोनों ही होते हैं। *ससजुषो रुः* से 'स्' को नित्य रुत्व प्राप्त था पक्ष में रेफ विधानार्थ यह सूत्र है ॥ जब 'रु' होगा तो *भोभगो०*

(८।३।१७) से रु के रेफ को य् तथा *लोपः शाक०* (८।३।१९) से उस य् का लोप होकर 'अग्न एव' बनेगा। रेफ करने पर 'अग्नरेव' बनेगा। अन्त्य को ये आदेश जानें॥

यहाँ से '*उभयथा छन्दसि*' की अनुवृत्ति ८।२।७१ तक जायेगी॥

भुवश्च महाव्याहृतेः ॥८।२।७१॥

भुवः ६।१॥ च अ०॥ महाव्याहृतेः ६।१॥ *अनु०*—उभयथा छन्दसि, रः, रुः, पदस्य॥ *अर्थः*—भुवस् इत्येतस्य महाव्याहृतेश्छन्दसि विषये उभयथा = रुर्वा रेफो वा भवति॥ भूर् भुवस् स्वर् इति तिस्रो महाव्याहृतयः, मध्यमाया इह ग्रहणम्॥ *उदा०*—भुव इत्यन्तरिक्षम्। भुवरित्यन्तरिक्षम्॥

भाषार्थः—[*महाव्याहृतेः*] महाव्याहृति वाला जो [*भुवः*] भुवस् शब्द उसको [च] भी वेद विषय में दोनों प्रकार से अर्थात् रु एवं रेफ दोनों ही होते हैं॥ भूर्, भुवस्, स्वर्, महस्, जनस्, तपस्, सत्यम् ये ७ व्याहृतियाँ कहाती हैं। इनमें से आदि की तीन महाव्याहृतियाँ कहाती है, क्योंकि इनका वेद में साक्षात् प्रयोग मिलता है, तथा इनका वाच्य पृथिवी अन्तरिक्ष एवं द्यु है। इनके अन्तर्गत अन्य व्याहृतिवाच्य लोकों का भी समावेश हो जाता है। उनमें अन्तरिक्ष वाचिका भुवस् महाव्याहृति को यहाँ रुत्व एवं रेफ कह दिया। पूर्ववत् रुत्व करने पर र् को य् एवं य् का लोप करके 'भुव इत्यन्तरिक्षम्' बना॥

वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः ॥८।२।७२॥

वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहाम् ६।३॥ दः १।१॥ *स०*—वसु० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—पदस्य। *ससजुषो रुः* इत्यतः 'सः' इत्यनुवर्त्तते मण्डूकप्लुतगत्या॥ *अर्थः*—सकारान्तस्य वस्वन्तस्य पदस्य स्रंसु ध्वंसु, अनडुह इत्येतेषां च दकारादेशो भवति॥ *उदा०*—वसु—विद्वद्भ्याम्, विद्वद्भिः, पपिवद्भ्याम्, पपिवद्भिः। स्रंसु—उखास्रद्भ्याम्, उखास्रद्भिः। ध्वंसु—पर्णध्वद्भ्याम्, पर्णध्वद्भिः। अनडुह्—अनडुद्भ्याम्, अनडुद्भिः॥

भाषार्थः—[*वसु''डुहाम्*] सकारान्त वस्वन्त पद को तथा स्रंसु ध्वंसु एवं अनडुह् पद को [दः] दकारादेश होता है॥ इस सूत्र में

ससजुषो रुः से 'स' की अनुवृत्ति लाते हैं, जिसको वसु का ही वि
बना कर अर्थ होगा 'सकारान्त वस्वन्त पद को'। शेष स्रंसु ध्वंसु
सकारान्त ही रहते हैं, एवं अनडुह् सकारान्त है ही नहीं, अतः
विशेषण इन पदों में अनावश्यक है ॥

शतृ को *विदेः शतुर्वसुः* (७।१।३६) से वसु आदेश करके विद्वस्
बना, जिसके अन्त्य अल् को भ्याम् परे रहते *स्वादिष्व०* (१।४।१
पद संज्ञा होकर दकारादेश हो गया। पपिवान् की सिद्धि सूत्र ३।२
में है, सो यहाँ पपिवस् बनकर भ्याम् परे रहते स् को दत्व हो
है। उखास्रत् पर्णध्वत् की सिद्धि परि० ३।२।७६ में देखें, तद्वत्
भिस् परे रहते पद संज्ञा (१।४।१७) होकर रूप जानें। अन
अन्त्य अल् 'ह्' को द् हुआ है ॥

यहाँ से 'दः' की अनुवृत्ति ८।२।७५ तक जायेगी ॥

तिप्यनस्तेः ॥८।२।७३॥

तिपि ७।१॥ अनस्तेः ६।१॥ स०—न अस्तिरनस्तिस्तस्य...
त्पुरुषः ॥ अनु०—दः, पदस्य। 'सः' अत्राप्यनुवर्त्तते पूर्ववत् ॥ अ
अनस्तेः सकारान्तस्य पदस्य तिपि परतो दकारादेशो भवति ॥ उ
अचकाद् भवान्, अन्वशाद् भवान् ॥

भाषार्थः—[*अनस्तेः*] अस् (धातु) को छोड़कर जो सकारा
उसको [*तिपि*] तिप् परे रहते दकारादेश होता है ॥ चकास् तथ
पूर्वक शासु धातु के लङ् में अदादित्वात् शप् का लुक् होकर 'अ
त्' रहा। प्रकृत सूत्र से स् को द् तथा *हल्ङ्याभ्यो०* (६।१।६६)
के त् का लोप होकर अचकाद्, अन्वशाद् बन गया ॥

सिपि धातो रुर्वा ॥८।२।७४॥

सिपि ७।१॥ धातोः ६।१॥ रुः १।१॥ वा अ० ॥ अनु
पदस्य, 'सः' इत्यपि च पूर्ववत् ॥ *अर्थः*—सकारान्तस्य पदस्य
रुरित्ययमादेशो विकल्पेन भवति सिपि परतः पक्षे दकारो वा ॥ उ
अचकास्त्वम्, अचकात् त्वम्। अन्वशास्त्वम्, अन्वशात् त्वम् ॥

भाषार्थः—सकारान्त पद जो [*धातोः*] धातु उसको [*सि*
परे रहते [*रुः*] रु आदेश [*वा*] विकल्प से होता है। पक्ष में

प्राप्त दकारादेश होगा ॥ रु करने पर रेफ को विसर्जनीय (८।२।६६) करके त्वम् परे रहते *विसर्जनीयस्य सः* (८।३।३४) से विसर्जनीय को स् हो गया, एवं दत्व करने पर द् को चर्त्व होकर त् हो गया है ॥

यहाँ से '*सिपि रुर्वा*' की अनुवृत्ति ८।२।७५ तक तथा '*धातोः*' की ८।२।७६ तक जायेगी ॥

दश्च ॥८।२।७५॥

दः ६।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—सिपि धातो रुर्वा, दः, पदस्य ॥ *अर्थः*—दकारान्तस्य च धातोः पदस्य सिपि परतो रुर्भवति दकारो वा ॥ *उदा०*—अभिनस्त्वम्, अभिनत् त्वम्। अच्छिनस्त्वम्, अच्छिनत् त्वम् ॥

भाषार्थः—[दः] दकारान्त पद जो धातु उसको [च] भी सिप् परे रहते विकल्प से रु होता है। पक्ष में दत्व होगा ॥ परि० ६।१।६६ में अभिनोऽत्र की सिद्धि की है, तद्वत् यहाँ भी 'अभिनर्' बनकर पूर्ववत् विसर्जनीय एवं सत्व त्वम् परे रहते हो गया। पक्ष में दत्व होकर अभिनत् त्वम् बनेगा ही ॥

र्वोरुपधाया दीर्घ इकः ॥८।२।७६॥

र्वोः ६।२॥ उपधायाः ६।१॥ दीर्घः १।१॥ इकः ६।१॥ *स०*—रश्च वश्च र्वौ, तयोः ... इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—धातोः, पदस्य ॥ *अर्थः*—रेफान्तस्य वकारान्तस्य च धातोः पदस्य उपधाया इको दीर्घो भवति ॥ *उदा०*—रेफान्तस्य—गीः, धूः, पूः, आशीः। वकारग्रहणमुत्तरार्थं तेन तत्रैवोदाहरिष्यते ॥

भाषार्थः—[र्वोः] रेफान्त तथा वकारान्त जो धातु पद उसकी [*उपधायाः*] उपधा [*इकः*] इक् को [*दीर्घः*] दीर्घ होता है ॥ वकार ग्रहण यहाँ अगले सूत्र के लिये है ॥ धूः पूः की सिद्धि परि० ३।२।१७७ में देखें। गीर्वान् आशीर्वान् की सिद्धि मतुप् में सूत्र ८।२।१५ में की है, तद्वत् यहाँ भी क्विप् करके 'सु' का हल्ङ्यादि लोप करके गीः आशीः बनेगा ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ८।२।७८ तक जायेगी ॥

हलि च ॥८।२।७७॥

हलि ७।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—र्वोरुपधाया दीर्घ इकः, धातोः ॥

अर्थः—हलि च परतो रेफवकारान्तस्य धातोरुपधाया इको दीर्घो भवति ॥ *उदा०*—रेफान्तस्य-आस्तीर्णम्, विस्तीर्णम्, विशीर्णम्, अवगूर्णम्। वकारान्तस्य-दीव्यति, सीव्यति ॥

भाषार्थः—[*हलि*] हल् परे रहते [*च*] भी रेफान्त एवं वकारान्त धातु की उपधा जो इक् उसको दीर्घ होता है ॥ आस्तीर्णम् आदि की सिद्धियाँ सूत्र ७।१।१०० एवं ८।२।४२ में देखें, तथा दीव्यति सीव्यति की परि० ३।१।६६ में देखें ॥ पूर्व सूत्र से पदान्त में जो रेफ एवं वकार उनकी उपधा को दीर्घत्व प्राप्त था, यह सूत्र अपदान्तार्थ है ॥

यहाँ से '*हलि*' की अनुवृत्ति ८।२।७८ तक जायेगी ॥

उपधायां च ॥८।२।७८॥

उपधायाम् ७।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—हलि, र्वोरुपधाया दीर्घ इकः, धातोः ॥ *अर्थः*—हलि परतो यौ धातोरुपधाभूतौ रेफवकारौ तयोरुपधाया इको दीर्घो भवति ॥ *उदा०*—हुर्छा-हूर्छिता। मुर्छा-मूर्छिता। उर्वी-ऊर्विता। धुर्वी-धूर्विता ॥

भाषार्थः—हल् परे रहते जो धातु की [*उपधायाम्*] उपधा भूत रेफ एवं वकार उनकी (रेफ एवं वकार की) उपधा इक् को [*च*] भी दीर्घ होता है ॥ हुर्छा मुर्छा धातुओं की उपधा रेफ है, उस रेफ की उपधा इक् 'उ' को दीर्घ प्रकृत सूत्र से होता है। इसी प्रकार उर्वी, धुर्वी का उर्व् धुर्व् शेष रहकर रेफ की उपधा इक् को दीर्घ हुआ है ॥ वकार उपधा वाली धातु के अभाव में उदाहरण नहीं दिखाया ॥

न भकुर्छुराम् ॥८।२।७९॥

न अ० ॥ भकुर्छुराम् ६।३॥ *स०*—भश्च कुर् च छुर् च भकुर्छुरस्तेषां ''इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—र्वोरुपधायाः दीर्घ इकः, धातोः ॥ *अर्थः*—रेफस्य वकारान्तस्य भस्य कुर् छुर् इत्येतयोश्चोपधायाः दीर्घो न भवति ॥ *उदा०*—भस्य-धुरं वहति धुर्यः, धुरि साधुर्धुर्यः। कुर्—कुर्यात्। छुर्—छुर्यात् ॥

भाषार्थः—रेफ तथा वकारान्त [*भकुर्छुराम्*] भसंज्ञक को एवं कुर् छुर् धातु की उपधा को दीर्घ [*न*] नहीं होता ॥ सर्वत्र उदाहरणों में *हलि* च से दीर्घत्व की प्राप्ति थी प्रतिषेध कर दिया ॥ कुर्यात् की सिद्धि

सूत्र ६।४।१०९ में देखें। तद्वत् छुर् धातु से छुर्यात् बनेगा। धुर्यः में धुरो यड्ढकौ (४।४।७७) तथा तत्र साधुः (४।४।६८) से यत् प्रत्यय हुआ है, अतः 'धुर्' यचि भम् (१।४।१८) से भसंज्ञक है ॥

अदसोऽसेर्दादु दो मः ॥८।२।८०॥

अदसः ६।१॥ असेः ६।१॥ दात् ५।१॥ उ लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ दः ६।१॥ मः १।१॥ स०—अविद्यमानः सिः सकारो यस्य स असिस्तस्य ''बहुव्रीहिः ॥ 'सि' इत्यत्र इकार उच्चारणार्थः ॥ *अर्थः*—असकारान्तस्यादसो दादुत्तरस्य वर्णस्य उवर्णादेशो भवति, दकारस्य च मकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—अमुम्, अमू, अमून्, अमुना, अमूभ्याम् ॥

भाषार्थः—[*असेः*] असकारान्त जो [*अदसः*] अदस् शब्द उसके [*दात्*] दकार से उत्तर जो वर्ण उसके स्थान में [*उ*] उवर्ण आदेश होता है, तथा [*दः*] दकार को [*मः*] मकारादेश भी होता है ॥ यहाँ उवर्ण आदेश करने से दकार से उत्तर एकमात्रिक वाले वर्ण को ह्रस्व 'उ' तथा दो मात्रिक वाले को दीर्घ 'ऊ' होता है, ऐसा जानें। यह बात परि० १।१।४६ के प्रमाणकृत आन्तर्य के उदाहरण अमुष्मै अमूभ्याम् से सुस्पष्ट हो जाती है, सो वहीं देखें। अमू की सिद्धि परि० १।१।१२ में देखें, एवं अमुना की सिद्धि न मु ने (८।२।३) सूत्र में देखें। अमून् में *तस्माच्छसो०* (६।१।६६) से शस् के स् को न् हुआ है ॥

यहाँ से '*अदसोऽसेर्दात् दो मः*' की अनुवृत्ति ८।२।८१ तक जायेगी ॥

एत ईद् बहुवचने ॥८।२।८१॥

एतः ६।१॥ ईत् १।१॥ बहुवचने ७।१॥ *अनु०*—अदसोऽसेर्दात् दो मः ॥ *अर्थः*—असकारान्तस्यादसो दादुत्तरस्य एकारस्य ईकारादेशो भवति दकारस्य च मकारः, बहुवचने ॥ *उदा०*—अमी, अमीभिः, अमीभ्यः, अमीषाम्, अमीषु ॥

भाषार्थः—असकारान्त अदस् शब्द के दकार से उत्तर [*एतः*] एकार के स्थान में [*ईत्*] ईकारादेश होता है, एवं दकार को मकार भी होता है, [*बहुवचने*] बहुवचन में, अर्थात् बहुत पदार्थों को कहने में ॥ अमी की सिद्धि परि० १।१।१२ में देखें। तद्वत् भिस् आदि विभक्तियों में भी

जानें। *बहुवचने झल्येत्* (७।३।१०३) से एत्व कर लेने पर अमीभिः आदि में ईत्व होता है। अमीषाम् यहाँ 'अद आम्' इस अवस्था में ही *आमि सर्वनाम्नः०* (७।१।५२) से सुट् आगम होकर पश्चात् अन्य कार्य होते हैं॥

वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः ॥८।२।८२॥

वाक्यस्य ६।१॥ टेः ६।१॥ प्लुतः १।१॥ उदात्तः १।१॥ *अनु०*—पदस्य॥ *अर्थः*—अधिकारोऽयमापादपरिसमाप्तेः। यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामो वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्त इत्येवं तद्वेदितव्यम्॥ *उदा०*—वक्ष्यति-प्रत्यभिवादेऽशूद्रे-अभिवादये देवदत्तोऽहं भोः, आयुष्मानेधि दे वदत्त ३॥

भाषार्थः—यह अधिकार सूत्र है। पाद की समाप्ति पर्यन्त (८।२।१०८) इसका अधिकार जायेगा, अतः सर्वत्र [*वाक्यस्य*] वाक्य की [*टेः*] टि को [*प्लुतः*] प्लुत [*उदात्तः*] उदात्त होता है ऐसा अर्थ होता जायेगा॥ उदाहरण में 'देवदत्त ३' वाक्य का अन्तिम पद है, अतः उसकी 'टि' को उदात्त प्लुत हो गया। 'पदस्य' का अधिकार आ ही रहा है, अतः "वाक्यान्त पद की टि को प्लुत उदात्त हो" यह अर्थ सङ्गत हो जायेगा॥ *ऊकालोऽज्झ्रस्व०* (१।२।२७) से त्रिमात्रिक की प्लुत संज्ञा कही है, सो टि को त्रिमात्रिकत्व एवं उदात्तत्व हो जायेगा। जहाँ हलन्त टिसंज्ञक होगा वहाँ भी हल् से पूर्व अच् को ही प्लुत होगा, क्योंकि प्लुत संज्ञा अच् की कही है॥

प्रत्यभिवादेऽशूद्रे ॥८।२।८३॥

प्रत्यभिवादे ७।१॥ अशूद्रे ७।१॥ *स०*—न शूद्रोऽशूद्रस्तस्मिन्.... नञ्-तत्पुरुषः॥ *अनु०*—वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः, पदस्य॥ *अर्थः*—प्रत्यभिवादे यद्वाक्यमशूद्रविषयकं तस्य टेः प्लुतो भवति स च उदात्तः॥ अभिवाद्यमानो यदाशीर्वचः प्रयुङ्क्ते स प्रत्यभिवादः॥ *उदा०*—अभिवादये देवदत्तोऽहम् भोः, आयुष्मानेधि दे त्त ३॥

भाषार्थः—[*अशूद्रे*] अशूद्र विषय में [*प्रत्यभिवादे*] प्रत्यभिवाद वाक्य के पद की टि को प्लुत होता है, और वह प्लुत उदात्त होता है॥ अभिवादन करने के पश्चात् जिसका अभिवादन किया गया है उसके द्वारा जो आशीर्वचन कहा जाता है, वही प्रत्यभिवाद है। इस प्रकार

उदाहरण में पहले 'अभिवादये···' मैं देवदत्त आपका अभिवादन करता हूँ, ऐसा अभिवादन वाक्य प्रयुक्त हुआ। पश्चात् अभिवाद्यमान ने प्रत्यभिवादन रूप में आशीर्वचन कहा "हे देवदत्त तुम चिरञ्जीवी हो", सो यहाँ प्रत्यभिवाद वाक्य के अन्तिम पद देवदत्त की टि को प्लुत उदात्त हो गया ॥

दूराद्धूते च ॥८।२।८४॥

दूरात् ५।१॥ हूते ७।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः, पदस्य ॥ *अर्थः*—दूराद् हूते = आह्वाने यद्वाक्यं वर्त्तते तस्य टेः प्लुतो भवति स च उदात्तः ॥ *उदा०*—आगच्छ भो माणवक देवदत्त ३। आगच्छ भो माणवक यज्ञदत्त ३ ॥ अन्त्यं वर्जयित्वा अन्यत्रैकश्रुतिर्भवति उदात्तपूर्वं विहाय ॥

भाषार्थः—[*दूरात्*] दूर से [*हूते*] बुलाने में जो प्रयुक्त वाक्य उसकी टि को [*च*] भी प्लुत उदात्त होता है ॥ देवदत्त ३ यज्ञदत्त ३ को यहाँ प्लुत उदात्त हो गया, क्योंकि वाक्य में दूर से आह्वान हो रहा है ॥ *एकश्रुति दूरात् सम्बुद्धौ* (१।२।३३) से टि को छोड़कर अन्यत्र एकश्रुति होती है, और टि से पूर्व को अनुदात्ततर (१।२।४०) होता है ॥

यहाँ से 'दूराद्धूते' की अनुवृत्ति ८।२।८५ तक जायेगी ।

हैहेप्रयोगे हैहयोः ॥८।२।८५॥

हैहेप्रयोगे ७।१॥ हैहयोः ६।२॥ *स०*—हैश्च हेश्च हैहयौ, तयोः प्रयोगः हैहेप्रयोगस्तस्मिन्···द्वन्द्वगर्भषष्ठीतत्पुरुषः। हैश्च हेश्च हैहयौ, तयोः···इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—दूराद्धूते, प्लुत उदात्तः, पदस्य ॥ *अर्थः*—हैहयोः प्रयोगे दूरादाह्वाने यद्वाक्यं तत्र हैहयोरेव प्लुतोदात्तो भवति ॥ *उदा०*- है ३ देवदत्त, देवदत्त है ३। हे ३ देवदत्त, देवदत्त हे ३ ॥

भाषार्थः—[*हैहेप्रयोगे*] है तथा हे के प्रयोग होने पर जो दूर से बुलाने में प्रयुक्त वाक्य उसमें [*हैहयोः*] है तथा हे को ही प्लुत उदात्त होता है ॥ 'वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः' का अधिकार होने से वाक्य के अन्त में प्रयुक्त 'है हे' को ही प्लुत उदात्त होता, किन्तु यहाँ 'हैहयोः'

कह देने से वाक्य के आदि अथवा अन्त कहीं भी 'हे हे' हों उन्हें प्लुत उदात्त हो जायेगा ॥

गुरोरनृतोऽनन्त्यस्याप्येकैकस्य प्राचाम् ॥८।२।८६॥

गुरोः ६।१॥ अनृतः ६।१॥ अनन्त्यस्य ६।१॥ अपि अ० ॥ एकैकस्य ६।१॥ प्राचाम् ६।३॥ स०—न ऋत् अनृत् तस्य…नञ्तत्पुरुषः । न अन्त्योऽनन्त्यस्तस्य…नञ्तत्पुरुषः ॥ एकैकस्य इत्यत्र वीप्सायामर्थे द्वित्वम्, एकं बहुव्रीहिवत् (८।१।९) इति बहुव्रीहिवद्भावश्च ॥ अनु०—वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः, पदस्य ॥ अर्थः—ऋकारवर्जितस्य गुरोरनन्त्यस्य, एकैकस्य, अपिग्रहणादन्त्यस्यापि टेः (सम्बोधने वर्त्तमानस्य) प्राचामाचार्याणां मतेन प्लुतोदात्तो भवति ॥ प्रत्यभिवादेऽशूद्रे इत्येवमादिना यः प्लुतो विहितस्तस्यैवायं स्थानिविशेष उच्यते ॥ उदा०—आयुष्मानेधि दे ३ वदत्त । देवद ३ त्त । देवदत्त ३ । य ३ ज्ञदत्त । यज्ञद ३ त्त । यज्ञदत्त ३ ॥

भाषार्थः—[*अनृतः*] ऋकार को छोड़कर वाक्य के [*अनन्त्यस्य*] अनन्त्य (जो अन्त में न हो ऐसे) [*गुरोः*] गुरुसंज्ञक वर्ण को [*एकैकस्य*] एक एक करके अर्थात् पर्याय से तथा अन्त्य के टि को [*अपि*] भी [*प्राचाम्*] प्राचीन आचार्यों के मत में प्लुत उदात्त होता है ॥

प्रत्यभिवादेऽशूद्रे आदि तीन सूत्रों से जो वाक्य के अन्तिम पद के टि को प्लुत कहा है, उसका इस सूत्र से प्राचीन आचार्यों के मत में अन्य स्थानविशेष भी कहते हैं । 'प्राचाम्' कहने से पाणिनि मुनि के मत में केवल अन्त्य को प्लुतोदात्त होगा, अर्थात् 'आयुष्मानेधि देवदत्त ३' ऐसा ही रहेगा ॥ इस प्रकार इस सूत्र से प्राचीन आचार्यों के मत में 'देवदत्त' के अनन्त्य गुरुसंज्ञक वर्ण 'दे' के 'ए' को एवं 'द' के 'अ' को प्लुत होता है, तथा 'अपि' ग्रहण से पूर्व सूत्रों से प्राप्त अन्त्य टि को अर्थात् त्त के अ को भी पर्याय से प्लुत होता है । अन्त्य के साथ यहाँ गुरु का सम्बन्ध न लगकर टि का ही लगाना है, अतः गुरु संज्ञा न होने पर भी अन्त्य टि को प्लुत होता है ॥ *दीर्घं च* (१।४।१२) से 'दे' की गुरु संज्ञा तथा *संयोगे गुरु* (१।४।११) से त्त परे रहते 'द' की गुरु संज्ञा है । इसी प्रकार यज्ञदत्त में भी जानें, यहाँ *संयोगे गुरु* से ही गुरु संज्ञा है ॥

ओमभ्यादाने ॥८।२।८७॥

ओम् अ० ॥ अभ्यादाने ७।१॥ अनु०—प्लुत उदात्तः, पदस्य ॥ अर्थः—अभ्यादाने य ओमृशब्दस्तस्य प्लुत उदात्तो भवति ॥ अभ्यादानम् = प्रारम्भः ॥ उदा०—ओ३म् अग्निमीडे पुरोहितम् (ऋ० १।१।१) ॥

भाषार्थः—[*अभ्यादाने*] अभ्यादान = प्रारम्भ में वर्त्तमान [*ओम्*] ओम् शब्द को प्लुत उदात्त होता है ॥ प्रारम्भ से अभिप्राय वैदिक मन्त्रों के प्रारम्भ से है ॥ *अचश्च* (१।२।२८) परिभाषा सूत्र से सर्वत्र अच् को प्लुत होगा ॥

ये यज्ञकर्मणि ॥८।२।८८॥

ये लुप्तषष्ठ्यन्तनिर्देशः ॥ यज्ञकर्मणि ७।१॥ स०—यज्ञस्य कर्म = क्रिया यज्ञकर्म तस्मिन्···षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—प्लुत उदात्तः, पदस्य ॥ *अर्थः*—ये इत्येतस्य पदस्य यज्ञकर्मणि प्लुतोदात्तो भवति ॥ उदा०—ये ३ यजामहे, समिधाग्निं दुवस्यत (ऋ० ८।४४।१) ॥

भाषार्थः—[*ये*] ये शब्द को [*यज्ञकर्मणि*] यज्ञ की क्रिया में प्लुत उदात्त होता है ॥ श्रौत यज्ञकर्म में याज्या = जिस मन्त्र से आहुति दी जाती है उसके आरम्भ में 'ये ३ यजामहे' बोला जाता है ॥

यहाँ से '*यज्ञकर्मणि*' की अनुवृत्ति ८।२।९२ तक जायेगी ॥

प्रणवष्टेः ॥८।२।८९॥

प्रणवः १।१॥ टेः ६।१॥ *अनु०*—यज्ञकर्मणि, वाक्यस्य प्लुत उदात्तः, पदस्य ॥ *अर्थः*—यज्ञकर्मणि वाक्यस्य पदस्य टेः प्रणवः = ओम् इत्यादेशो भवति स च प्लुतोदात्तो भवति ॥ उदा०—अपां रेतांसि जिन्वतो३म् (ऋ० ८।४४।१६) देवान् जिगाति सुम्नयो३म् ॥

भाषार्थः—यज्ञकर्म में अन्तिम पद की [*टेः*] टि को [*प्रणवः*] प्रणव अर्थात् 'ओम्' आदेश होता है और वह प्लुत उदात्त होता है ॥

विशेषः—सामिधेन्यादि (समूह विशेष रूप में पठित) ऋचा विशेषों में ही टि को प्रणव (ओङ्कार) यज्ञकर्म में होता है, सभी मन्त्रों को नहीं, अतः सभी मन्त्रों के अन्त में टि को ओ३म् करके यज्ञकर्म में बोलना

अवैदिक प्रक्रिया है, ऐसा समझना चाहिये। यह ओ३म् आदेश वहीं होता है जहाँ ऋक्समूह का पाठ मात्र होता है वौषट् या स्वाहा शब्द का प्रयोग नहीं होता यह श्रौत कर्म का नियम है॥ जिन्वति में इकार टि है, एवं 'सुम्नयुस्' में 'उस्' अतः इन्हीं को उदाहरणों में ओ३म् हो गया है। जिन्वति की सिद्धि पूर्व दिखा आये हैं॥

यहाँ से 'टेः' की अनुवृत्ति ८।२।९० तक जायेगी॥

याज्यान्तः ॥८।२।९०॥

याज्यान्तः १।१॥ *स०*—याज्यानामन्तः याज्यान्तः, षष्ठीतत्पुरुषः॥ *अनु०*—टेः, यज्ञकर्मणि, वाक्यस्य प्लुत उदात्तः, पदस्य॥ *अर्थः*—याज्याकाण्डे ये पठिताः मन्त्रास्ते याज्याः। तेषामन्त्यस्य टेः प्लुत उदात्तो भवति॥ *उदा०*—स्तोमैर्विधेमाग्नये३ (ऋ० ८।४३।११)। जिह्वामग्ने चकृषे हव्यवाहा३म् (ऋ० १०।८।६)॥

भाषार्थः—याज्यानुवाक्याकाण्ड[1] में पढ़े हुए मन्त्र याज्या[2] नाम से यहाँ स्मृत हैं। [*याज्यान्तः*] याज्या नाम की ऋचाओं के अन्त की टि को यज्ञकर्म में प्लुत उदात्त होता है॥ याज्याकाण्ड में ऋचाओं के वाक्यसमुदाय रूप में याज्या मन्त्र पढ़े हैं, सो यहाँ 'अन्त' ग्रहण करने से उस समुदाय के अन्त के टि को प्लुत उदात्त होता है, अन्यथा प्रत्येक वाक्य के अन्त के टि को हो जाता॥

ब्रूहिप्रेष्यश्रौषड्वौषडावहानामादेः ॥८।२।९१॥

ब्रूहि''हानाम् ६।३॥ आदेः ६।१॥ *स०*—ब्रूहि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—यज्ञकर्मणि, प्लुत उदात्तः, पदस्य॥ *अर्थः*—ब्रूहि, प्रेष्य, श्रौषट्, वौषट्, आवह इत्येतेषामादेः प्लुत उदात्तो भवति, यज्ञकर्मणि॥ *उदा०*—ब्रूहि—अग्नयेऽनुब्रू३हि। प्रेष्य—अग्नये गोमयान् प्रे३ष्य।

---

१. अन्य संहिताओं में याज्यानुवाक्या मन्त्र बिखरे हुए हैं, परन्तु मैत्रायणी संहिता ४।१०–१४ (ग्रन्थान्ते) में सब एक स्थान पर पठित हैं। यह याज्यानुवाक्याकाण्ड ही कहाता है।

२. याज्या वे मन्त्र कहाते हैं जिनसे श्रौत कर्म में यजन = आहुति प्रदान किया जाता है।

श्रौषट्—अस्तु श्रौ ३ षट् । वौषट्—सोमस्याग्ने वीहि ३ वौ ३ षट् । आवह—अग्निमा ३ वह ॥

भाषार्थः—[*ब्रूहि···नाम्*] ब्रूहि, प्रेष्य, श्रौषट्, वौषट्, आवह इन पदों के [*आदेः*] आदि को यज्ञकर्म में प्लुत उदात्त होता है ॥ श्रौषट् वौषट् शब्द निपात तथा अन्य शब्द लोडन्त हैं ॥

यहाँ से '*आदेः*' की अनुवृत्ति ८।२।९२ तक जायेगी ॥

अग्नीत्प्रेषणे परस्य च ॥८।२।९२॥

अग्नीत्प्रेषणे ७।१॥ परस्य ६।१॥ च अ० ॥ *स०*—अग्नीधः प्रेषणमग्नीत्प्रेषणं तस्मिन्···षष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—आदेः, यज्ञकर्मणि, प्लुत उदात्तः, पदस्य ॥ *अर्थः*—अग्नीधः प्रेषणे आदेः प्लुतोदात्तो भवति तस्मात् परस्य च, यज्ञकर्मणि ॥ अग्नीद् ऋत्विग्विशेषस्तस्य प्रेषणम् = यज्ञकर्मणि नियोजनम् ॥ *उदा०*—आ ३ श्रा ३ वय । ओ ३ श्रा३वय ॥

भाषार्थः—[*अग्नीत्प्रेषणे*] अग्नीध् के प्रेषण = नियोजन (कार्यार्थ प्रैष करने में) में पद के आदि को प्लुत उदात्त होता है [*च*] तथा उससे [*परस्य*] परे को भी होता है, यज्ञकर्म में ॥ अग्नीध् यज्ञ के ऋत्विग् विशेष की संज्ञा है ॥

विभाषा पृष्टप्रतिवचने हेः ॥८।२।९३॥

विभाषा १।१॥ पृष्टप्रतिवचने ७।१॥ हेः ६।१॥ *स०*—पृष्टस्य प्रतिवचनम् = आख्यानं पृष्टप्रतिवचनं तस्मिन्···षष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—प्लुत उदात्तः, पदस्य ॥ *अर्थः*—पृष्टस्य प्रतिवचने = प्रत्युत्तरे हेः विभाषा प्लुत उदात्तो भवति ॥ *उदा०*—अकार्षीः कटं देवदत्त ? अकार्षं हि ३ । अकार्षं हि । अलावीः केदारं देवदत्त ? अलाविषं हि ३ । अलाविषं हि ॥

भाषार्थः—[*पृष्टप्रतिवचने*] पृष्ट = पूछे गये प्रश्न के प्रतिवचन = प्रत्युत्तर (वाक्य) में जो [*हेः*] हि उसको [*विभाषा*] विकल्प करके प्लुत उदात्त होता है ॥ 'अकार्षं हि, अलाविषं हि' ये पृष्टप्रतिवचन में वाक्य कहे गये हैं, अतः 'हि' को विकल्प से प्लुत उदात्त हो गया ॥

यहाँ से '*विभाषा*' की अनुवृत्ति ८।२।९४ तक जायेगी ॥

निगृह्यानुयोगे च ॥८।२।९४॥

निगृह्यानुयोगे ७।१॥ च अ० ॥ स०—निगृह्यस्य अनुयोगः निगृह्यानुयोगस्तस्मिन्''' षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—विभाषा, वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः, पदस्य ॥ स्वपक्षात् प्रच्यावनमपनयनं निग्रहः। यस्मादसौ प्रच्यावितस्तस्यैव मतस्याऽऽविष्करणम् शब्देन प्रकाशनं नियोगः। निगृह्य इति ल्यबन्तमेतत् ॥ *अर्थः*—निगृह्यानुयोगे यद् वाक्यं वर्तते तस्य टेः विभाषा प्लुत उदात्तो भवति ॥ *उदा०*—अनित्यः शब्द इति केनचित् प्रतिज्ञातम्, तं वादिनमुपपत्तिभिर्निगृह्य स्वमतात् प्रच्याव्य उपालिप्सुः सामर्षमनुयुङ्क्ते—अनित्यः शब्द इत्यात्थ ३। अनित्यः शब्द इत्यात्थ। अद्यामावास्येत्यात्थ ३। अद्यामावास्येत्यात्थ ॥

भाषार्थः—[*निगृह्यानुयोगे*] निगृह्यानुयोग में वर्तमान जो वाक्य उसकी टि को [च] भी विकल्प से प्लुत उदात्त होता है ॥ निगृह्य शब्द ल्यबन्त है। अपने पक्ष से (तर्क एवं हेतु द्वारा) किसी को स्वमत से हटा देने को अर्थात् उसके पक्ष का खण्डन कर देने को निग्रह कहते हैं, एवं जिस पक्ष से वह निगृहीत (पकड़ा गया है) हुआ है, उसी मत का शब्दों द्वारा आविष्कार = प्रकाश करना अनुयोग कहाता है। इस प्रकार निगृह्य = निगृहीत करके जो अनुयोग वह निगृह्यानुयोग है, उसमें जो वाक्य, उसकी 'टि' को प्लुत उदात्त होता है। उदाहरण में किसी ने 'शब्द अनित्य है' ऐसी प्रतिज्ञा की। ऐसा कहने वाले के पक्ष का तर्क एवं हेतु द्वारा खण्डन कर दिया, यह निग्रह हुआ। अब जिस पक्ष से अर्थात् 'अनित्य शब्द है' इस प्रतिज्ञा से वह हटाया गया, उसी पक्ष का क्रोधयुक्त निन्दा से वह उपालिप्सु = उपालम्भ देने वाला प्रकाश करता है। यथा—'अनित्यः'''' शब्द अनित्य है ऐसा कहता है, 'आज अमावस्या है' ऐसा कहता है, इस प्रकार यहाँ निगृह्यानुयोग स्पष्ट है ॥

आम्रेडितं भर्त्सने ॥८।२।९५॥

आम्रेडितम् १।१॥ भर्त्सने ७।१॥ अनु०—प्लुत उदात्तः ॥ *अर्थः*—भर्त्सने द्योत्ये आम्रेडितं प्लवते उदात्तश्च भवति ॥ *वाक्यादेरा०* (८।१।८) इत्यनेन भर्त्सने द्विर्वचनमुक्तं तस्याम्रेडितस्यात्र प्लुतो भवति ॥ *उदा०*—चौर चौर ३, वृषल वृषल ३, दस्यो दस्यो ३ घातयिष्यामि त्वा बन्धयिष्यामि त्वा ॥

भाषार्थः—[*भर्त्सने*] भर्त्सन में [*आम्रेडितम्*] आम्रेडित को (टि को) प्लुत उदात्त होता है ॥ *वाक्यादेरामन्त्रितस्या०* से भर्त्सन की गम्यमानता में द्वित्व कहा है, सो उस द्वित्व किये हुये के आम्रेडित संज्ञक (८।१।२) को प्रकृत सूत्र से प्लुत उदात्त हो गया ॥

यहाँ से '*भर्त्सने*' की अनुवृत्ति ८।२।९६ तक जायेगी ॥

अङ्गयुक्तं तिङाकाङ्क्षम् ॥८।२।९६॥

अङ्गयुक्तम् १।१॥ तिङ् १।१॥ आकाङ्क्षम् १।१॥ *स०*—अङ्ग इत्यनेन युक्तमङ्गयुक्तम्, तृतीयातत्पुरुषः । आकाङ्क्षतीति आकाङ्क्षम्, पचाद्यच् भवति ॥ *अनु०*—भर्त्सने, प्लुत उदात्तः ॥ *अर्थः*—अङ्ग इत्यनेन युक्तमाकाङ्क्षं तिङन्तं भर्त्सने प्लवते, उदात्तश्च स भवति ॥ *उदा०*—अङ्ग कूज ३, अङ्ग व्याहर ३, इदानीं ज्ञास्यसि जाल्म ॥

भाषार्थः—[*अङ्गयुक्तम्*] अङ्ग शब्द से युक्त जो [*तिङाकाङ्क्षम्*] आकाङ्क्षा रखने वाला तिङन्त उसको (उसके टि को) प्लुत होता है ॥ कूज, व्याहर (लोडन्त) तिङन्त अङ्ग शब्द से युक्त तथा आकाङ्क्ष (किसी अन्य बात की अपेक्षा रखते हैं) हैं, अतः इन्हें प्लुत हो गया ॥ किसी ने किसी को कहा—'अङ्ग कूज ३' 'खूब बोल लो तुम, खूब घूम लो तुम, अभी पता चलेगा ॥

विचार्यमाणानाम् ॥८।२।९७॥

विचार्यमाणानाम् ६।३॥ *अनु०*—वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः ॥ प्रत्यक्षादिप्रमाणेन वस्तुपरीक्षणं विचारः, तेन विचारेण विषयीक्रियमाणानि ज्ञानानि विचार्यमाणानि, तेषां विचार्यमाणानाम् ॥ *अर्थः*—विचार्यमाणानां वाक्यानां टेः प्लुतोदात्तो भवति ॥ *उदा०*—होतव्यं दीक्षितस्य गृहा ३ इ । तिष्ठेद्यूपा ३ इ, अनुप्रहरेद्यूपा ३ इ ॥

भाषार्थः—[*विचार्यमाणानाम्*] विचार्यमाण वाक्य के टि को प्लुत उदात्त होता है ॥ प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा किसी वस्तु का परीक्षण करना अर्थात् यह कैसा है कैसा नहीं, यह सोचना विचार है । उस विचार का विषयरूप जो ज्ञान वह विचार्यमाण (विचार किया जाने वाला) ज्ञान है, अतः ऐसे वाक्य के टि को प्लुत कह दिया । विपूर्वक चर धातु से कर्म में यक् शानच् होकर विचार्यमाण बना है । होतव्यं ..

यहाँ विचार किया जा रहा है कि 'दीक्षित के घर में यज्ञ करना चाहिये या नहीं। यूपे तिष्ठेत्' 'यहाँ क्या 'यूप पर रहे अथवा यूप पर प्रहार करे यह विचार हो रहा है; अतः ये विचार्यमाण वाक्य हैं। अगले सूत्र में 'भाषायाम्' कहने से यह सूत्र छन्द में ही होगा, ऐसा जानें॥ उदाहरणों में 'गृहे' 'यूपे' के एकार को प्रकृत सूत्र से प्लुत विधान करने पर *एचोऽप्रगृह्य०* (८।२।१०७) ने कहा कि 'एच् को प्लुत जब कहें तो उस एच् के पूर्व वाले आधे अंश को आकार हो जाये और वह प्लुत हो, तथा उत्तर वाले अंश को इकार उकार हो जाये, सो यहाँ 'ए' के उत्तरांश को इ तथा पूर्व को आकार होकर प्लुत हो गया। एच् की दो मात्रायें हैं, अतः एक-एक मात्रा को दोनों कार्य हो गये॥

यहाँ से '*विचार्यमाणानाम्*' की अनुवृत्ति ८।२।९८ तक जायेगी॥

पूर्वं तु भाषायाम् ॥८।२।९८॥

पूर्वम् १।१॥ तु अ० ॥ भाषायाम् ७।१॥ अनु०—विचार्यमाणानाम् वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः, पदस्य ॥ *अर्थः*—विचार्यमाणानां वाक्यानां भाषायां विषये पूर्वमेव वाक्यं प्लवते उदात्तश्च भवति॥ *उदा०*—अहिर्नु३, रज्जुर्नु। लोष्टो नु ३, कपोतो नु॥

भावार्थः—विचार्यमाण वाक्यों के [*पूर्वम्*] पूर्व वाले वाक्य की टि को [*तु*] ही [*भाषायाम्*] भाषा विषय में प्लुत उदात्त होता है॥ पूर्व सूत्र से ही सिद्ध होने पर नियमार्थ यह सूत्र है कि 'पूर्ववाले वाक्य की टि को ही प्लुत हो परवाले को नहीं'। प्रयोग की अपेक्षा से पूर्व समझना चाहिये, अतः अहिर्नु३, लोष्टो नु३ पूर्व प्रयुक्त वाक्य को प्लुत हुआ है। यह सर्प है, अथवा रज्जु है, ढेला है अथवा कपोत है ऐसा उदाहरणों का अर्थ है। 'नु' शब्द वितर्क अर्थ में यहाँ है॥

प्रतिश्रवणे च ॥८।२।९९॥

प्रतिश्रवणे ७।१॥ च अ० ॥ अनु०—वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः, पदस्य॥ प्रतिश्रवणमभ्युपगमः = अङ्गीकारः, श्रवणाभिमुख्यं च॥ *अर्थः*—प्रतिश्रवणे यद्वाक्यं वर्त्तते तस्य टेः प्लुत उदात्तो भवति॥ *उदा०*—गां देहि भोः? अहं ते ददामि३। देवदत्त भोः! किमात्थ३॥

भाषार्थः—[*प्रतिश्रवणे*] प्रतिश्रवण में वर्त्तमान वाक्य की टि को [च] भी प्लुत उदात्त होता है ॥ प्रतिश्रवण स्वीकार अङ्गीकार करने को तथा अच्छी प्रकार सुनने में प्रवृत्ति को भी कहते हैं, सो दोनों अर्थों में यह सूत्र प्रवृत्त होता है । पूर्व उदाहरण में किसी ने कहा 'गौ मुझे दान करो' तो दूसरे ने उसे स्वीकार करके कहा—अहं ते ददामि 'हाँ तुम्हें गौ देता हूँ' सो यह अङ्गीकार अर्थ में प्रतिश्रवण वाक्य है । द्वितीय उदाहरण में कोई देवदत्त को संबोधित करता है, सुनने वाला पूछता है क्या कहा ? इससे उसके अच्छी प्रकार सुनने की चेष्टा व्यक्त हो रही है, अतः टि को प्लुतोदात्त हो गया ॥

अनुदात्तं प्रश्नान्ताभिपूजितयोः ॥८।२।१००॥

अनुदात्तम् १।१॥ प्रश्नान्ताभिपूजितयोः ७।२॥ *स०*—प्रश्नार्थे वाक्ये प्रश्नशब्दो वर्तते, तस्य अन्तः प्रश्नान्तः, षष्ठीतत्पुरुषः । प्रश्नान्तश्च अभिपूजितश्च प्रश्नान्ताभिपूजितौ, तयोः'''इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—वाक्यस्य टेः प्लुतः, पदस्य ॥ *अर्थः*—प्रश्नवाक्ये यच्चरमं पदं प्रयुज्यते स प्रश्नान्तस्तस्मिन् प्रश्नान्तेऽभिपूजिते पदे यद्वाक्यं तत्र च विधीयमानो प्लुतोऽनुदात्तो भवति, न तूदात्तः ॥ *अनन्त्यस्यापि प्रश्ना०* (८।२।१०५) इत्यनेन प्रश्नान्ते प्लुतो विधीयते, अभिपूजिते यद्वाक्यं तत्रानेनानुदात्तं क्रियते ॥ *उदा०*—अगमं३ः पूर्वां३न् ग्रामां३न् अग्निभूता३इ । अगमं३ः पूर्वां३न् ग्रामां३न् पटा३उ । अभिपूजिते—शोभनः खल्वसि माणवक३ ॥

भाषार्थः—[*प्रश्नान्ताभिपूजितयोः*] प्रश्नान्त तथा अभिपूजित में विधीयमान प्लुत को [*अनुदात्तम्*] अनुदात्त होता है ॥ प्रश्नान्त से यहाँ प्रश्न किये जाने वाले वाक्य के अन्तिम पद से अभिप्राय है, सो ऐसे वाक्य के अन्तिम पद को विधीयमान, एवं अभिपूजित अर्थ में वर्त्तमान जो वाक्य उसको विधीयमान जो प्लुत उसे इस सूत्र ने अनुदात्त कह दिया । प्लुत को 'प्लुत उदात्तः' का अधिकार होने से उदात्त ही प्राप्त था, अतएव अनुदात्त विधानार्थ यह सूत्र है ॥

अनन्त्यस्यापि प्रश्ना०(८।२।१०५)से प्रश्नान्त में प्लुत का विधान है । अभिपूजित में इसी से अनुदात्त प्लुत होता है ॥ *अनन्त्यस्यापि प्रश्नाख्यानयोः* सूत्र से वाक्यस्थ अन्त्य एवं अनन्त्य सभी पदों के टि को प्लुत

स्वरित कहा है, सो यहाँ इस वचनप्रामाण्य से प्रश्नवाक्य के अन्तिम पद को पक्ष में प्लुत अनुदात्त भी हो जाता है, पक्ष में स्वरितत्व रहेगा ही। इस प्रकार अन्तिम पद को प्लुत स्वरित एवं प्लुत अनुदात्त होकर दो पक्ष बनेंगे। अभिपूजित (सत्कार) में सम्बोधन के पद को इसी सूत्र से प्लुत हो गया है ॥ हे अग्निभूते हे पटो यहाँ प्लुत करने पर पूर्ववत् (८।२।९७ के अनुसार) *एचोऽप्रगृह्यस्या०* (८।२।१०७) से पूर्व को 'आ' एवं उत्तर को इकार उकार होकर 'अग्निभूता ३ इ, पटा ३ उ' बना है ॥ "हे अग्निभूति, हे पटु क्या तुम पूर्व ग्रामों को गये थे" ऐसा अर्थ अगमः३ पूर्वा३न्...वाक्यों का है ॥ उत्तरांश को किये हुये इकार उकार उदात्त ही होते हैं, ऐसा समझना चाहिये ॥

यहाँ से '*अनुदात्तम्*' की अनुवृत्ति ८।२।१०२ तक जायेगी ॥

चिदिति चोपमार्थे प्रयुज्यमाने ॥८।२।१०१॥

चित् अ० ॥ इति अ० ॥ च अ० ॥ उपमार्थे ७।१॥ प्रयुज्यमाने ७।१॥ स०—उपमायाः अर्थः उपमार्थस्तस्मिन्...षष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—अनुदात्तम्, वाक्यस्य टेः प्लुतः, पदस्य ॥ *अर्थः*—चिदित्येतस्मिन् निपाते उपमार्थे प्रयुज्यमाने वाक्यस्य टेरनुदात्तः प्लुतो भवति ॥ *उदा०*—अग्निचिद् भाया३त्। राजचिद् भाया३त् ॥

भाषार्थः—[*चित्*] चित् [*इति*] यह निपात [*च*] भी जब [*उपमार्थे*] उपमा के अर्थ में [*प्रयुज्यमाने*] प्रयुक्त हो तो वाक्य के टि को अनुदात्त प्लुत होता है ॥ यहाँ इसी सूत्र से अनुदात्त एवं इसी से प्लुत दोनों का विधान हो रहा है ॥ अग्निचिद् भाया३त् आदि का अर्थ है 'अग्नि के समान प्रकाशित हो, राजा के समान दीप्तिमान् हो !' इस प्रकार यहाँ चित् उपमार्थ में प्रयुक्त है ॥

उपरि स्विदासीदिति च ॥८।२।१०२॥

उपरि अ० ॥ स्वित् अ० ॥ आसीत् क्रियापदम् ॥ इति अ० ॥ च अ० ॥ *अनु०*—अनुदात्तम्, वाक्यस्य टेः प्लुतः ॥ *अर्थः*—उपरि स्विदासीत् इत्येतस्य टेरनुदात्तः प्लुतो भवति ॥ *उदा०*—अधः स्विदासी३त् उपरि स्विदासी३त् (ऋ० १०।१२९।५) ॥

भाषार्थः—[*उपरि स्विदासीत्*] 'उपरि स्विदासीत्' [*इति*] इसके

टि को [च] भी प्लुत अनुदात्त होता है ॥ 'उपरि स्वित् आसीत्' ऐसा वेदमन्त्र का भाग है, यहाँ 'स्वित्' अव्यय वितर्क अर्थ में है। मन्त्र[1] भाग का अर्थ है कि—इस जगत् के उत्पन्न होने से पूर्व जो तमस् (प्रकृति) था वह स्रष्टा के उपरि (उससे अधिक) था, अथवा अधः = अल्प था? ऐसा वितर्क यहाँ किया जा रहा है, अतः विचार्यमाण वाक्य होने से दोनों वाक्यों के 'आसीत्' पद की टि को *विचार्यमाणानाम्* (८।२।९७) से प्लुत हुआ है, इस प्रकार दोनों के प्लुत को उदात्त भी ८।२।९७ से ही प्राप्त था, प्रकृत सूत्र से 'उपरि स्विदासीत्' के प्लुत को अनुदात्त हो गया। तब अधः स्विदासीत् वाला प्लुत यथावत् उदात्त ही रहा ॥

स्वरितमाम्रेडितेऽसूयासम्मतिकोपकुत्सनेषु ॥८।२।१०३॥

स्वरितम् १।१॥ आम्रेडिते ७।१॥ असू…नेषु ७।३॥ *स०*—असूया च सम्मतिश्च कोपश्च कुत्सनञ्च असूया…कुत्सनानि तेषु…इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—टेः प्लुतः ॥ *अर्थः*—आम्रेडिते परतः स्वरितः प्लुतो भवति, असूयायां, सम्मतौ कोपे कुत्सने च गम्यमाने ॥ *उदा०*—असूयायाम्—माणवकं३ माणवक, अभिरूपकं३ अभिरूपक! रिक्तं त आभिरूप्यम्। सम्मतौ—माणवकं३ माणवक, अभिरूपकं३ अभिरूपक! शोभनः खल्वसि। कोपे—माणवकं ३ माणवक, अविनीतकं३ अविनीतक! इदानीं ज्ञास्यसि जाल्म। कुत्सने—शाक्तीकं३ शाक्तीक, याष्टीकं३ याष्टीक! रिक्ता ते शक्तिः॥

भाषार्थः—[*आम्रेडिते*] आम्रेडित परे रहते पूर्व पद की टि को [*स्वरितम्*] स्वरित प्लुत होता है [*असूया…नेषु*] असूया = निन्दा, सम्मति = पूजा, कोप तथा कुत्सन गम्यमान होने पर॥ उदाहरणों में *वाक्यादेरामन्त्रि०* (८।१।८) से द्वित्व होता है, अतः पर वाले पद *आम्रेडित* (८।१।२) के परे रहते पूर्व की टि को प्लुत स्वरित हो गया॥ सर्वत्र उदाहरणों में असूयादि अर्थों की प्रतीति हो रही है, यथा प्रथम उदाहरण में 'ए सुन्दर माणवक! तेरा सब सौन्दर्य समाप्त हो गया' यहाँ स्पष्ट असूया है॥

यहाँ से 'स्वरितम्' की अनुवृत्ति ८।२।१०५ तक जायेगी॥

---

१. देखो—तम आसीत्तमसा० (ऋ० १०।१२९।३) मन्त्र में प्राचीन सांख्याचार्यों के मत में तमः प्रकृति की संज्ञा है। (द्र० दुर्ग निरुक्त टीका ७।३ में उद्धृत पारमर्ष सूत्र)॥

क्षियाशीःप्रैषेषु तिङाकाङ्क्षम् ॥८।२।१०४॥

क्षियाशीःप्रैषेषु ७।३॥ तिङ् १।१॥ आकाङ्क्षम् १।१॥ स०—क्षिया च आशीश्च प्रैषश्च क्षियाशीःप्रैषास्तेषु ''इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—स्वरितम्, टेः प्लुतः ॥ अर्थः—क्षिया, आशीः, प्रैष इत्येतेषु गम्यमानेषु यद् आकाङ्क्षं तिङन्तं तस्य टेः स्वरितः प्लुतो भवति ॥ उदा०—क्षियायाम्—स्वयं रथेन याति ३, उपाध्यायं पदातिं गमयति । स्वयं ह ओदनं भुङ्क्ते ३ उपाध्यायं सक्तून् पाययति । आशिषि—सुतांश्च लप्सीष्ठाः ३ धनं च तात । छन्दोऽध्येषीष्ठाः ३ व्याकरणं च भद्र । प्रैषे—कटं कुरु ३ ग्रामं च गच्छ । यवान् लुनीहि ३ सक्तूंश्च पिब ॥

भाषार्थः—[*क्षियाशीःप्रैषेषु*] क्षिया, आशीः तथा प्रैष गम्यमान हो तो [*तिङाकाङ्क्षम्*] आकाङ्क्ष तिङन्त की टि को स्वरितप्लुत होता है ॥ क्षिया आचार के उल्लङ्घन को कहते हैं ॥ 'सुतांश्च...यहाँ पुत्रों को प्राप्त करो और धन को प्राप्त करो' यह आशीर्वाद दिया जा रहा है । सर्वत्र पहले वाक्य का तिङन्त पद दूसरे वाक्य की अपेक्षा रखता है, अतः साकाङ्क्ष होने से प्लुत स्वरित हो गया ॥

अनन्त्यस्यापि प्रश्नाख्यानयोः ॥८।२।१०५॥

अनन्त्यस्य ६।१॥ अपि अ० ॥ प्रश्नाख्यानयोः ७।२॥ स०—न अन्त्यमनन्त्यम्, तस्य ''नञ्तत्पुरुषः । प्रश्नश्च आख्यानञ्च प्रश्नाख्याने तयोः ''इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—स्वरितम्, वाक्यस्य टेः प्लुतः, पदस्य ॥ अर्थः—वाक्यस्य अनन्त्यस्यापि अन्त्यस्यापि पदस्य टेः स्वरितः प्लुतो भवति प्रश्ने आख्याने च ॥ उदा०—प्रश्ने—अगमं ३ः पूर्वा ३ न् ग्रामा ३ न् अग्निभूता ३ इ, पटा ३ उ । आख्याने—अगमं ३ म् पूर्वा ३ न् ग्रामा ३ न् भोः ३ ॥

भाषार्थः—वाक्यस्थ [*अनन्त्यस्य*] अनन्त्य एवं अपि ग्रहण से अन्त्य पद की टि को [*अपि*] भी [*प्रश्नाख्यानयोः*] प्रश्न एवं आख्यान होने पर स्वरित प्लुत होता है ॥ 'पदस्य' एवं 'वाक्यस्य' दोनों का अधिकार होने से वाक्यान्त पद को ही स्वरित प्लुत की प्राप्ति थी, अनन्त्यस्य ग्रहण से वाक्यस्थ सभी पदों को स्वरित प्लुत हो गया ॥ प्रश्न वाक्य के अन्तिम पद की टि को पक्ष में अनुदात्त प्लुत भी *अनुदात्तं प्रश्नान्ता०* (८।२।१००) से जैसे होता है, वह उसी सूत्र में देखें ॥ आख्या

कथन उत्तर को कहते हैं। सो 'अगम ३ म्...'का अर्थ होगा 'हाँ मैं पूर्व के ग्रामों में गया था'। पहले वाक्य में पूछे गये वाक्य का यह उत्तर है ॥

प्लुतावैच इदुतौ ॥८।२।१०६॥

प्लुतौ १।२॥ ऐचः ६।१॥ इदुतौ १।२॥ स०—इत् च उत् च इदुतौ, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—प्लुतः ॥ *अर्थः*—ऐचः प्लुतप्रसङ्गे तदवयवभूतौ इदुतौ प्लुतौ भवतः ॥ *उदा०*—ऐ ३ तिकायन। औ ३ पगव ॥

भाषार्थः—[ऐचः] ऐच् के स्थान में जब प्लुत का प्रसङ्ग हो तो उस ऐच् = ऐ, औ के अवयवभूत जो [इदुतौ] इकार उकार उनको [प्लुतौ] प्लुत होता है ॥ अवर्ण तथा इवर्ण के मेल से ए ऐ, एवं अवर्ण तथा उवर्ण के मेल से ओ औ बनते हैं अर्थात् एच् समाहार वर्ण हैं, अतः *दूराद्धूते च* (८।२।८४) इत्यादि सूत्रों से जो विहित प्लुत वहाँ यदि ऐ औ को प्लुत करने का प्रसङ्ग हो तो ऐ औ के अवयवभूत इवर्ण और उवर्ण को ही प्लुत हो, तत्स्थित अवर्ण को न हो एतदर्थ यह सूत्र है ॥ उदाहरणों में अनन्त्य गुरु संज्ञक 'ऐ औ' को *गुरोरनृतो०* (८।२।८६) से प्लुत प्राप्त हुआ, तो प्रकृत सूत्र ने उस ऐच् के 'इ उ' भाग को प्लुत कर दिया ॥

एचोऽप्रगृह्यस्यादूराद्धूते पूर्वस्यार्धस्यादुत्तरस्येदुतौ ॥८।२।१०७॥

एचः ६।१॥ अप्रगृह्यस्य ६।१॥ अदूरात् ५।१॥ हूते ७।१॥ पूर्वस्य ६।१॥ अर्धस्य ६।१॥ आत् १।१॥ उत्तरस्य ६।१॥ इदुतौ १।२॥ स०—अप्रगृह्यस्य, अदूरात्, उभयत्र नञ्तत्पुरुषः। इदुतौ इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—प्लुतः ॥ *अर्थः*—अप्रगृह्यस्य एचोऽदूराद्धूते प्लुतविषये पूर्वस्यार्धस्य आकार आदेशो भवति स च प्लुतः, उत्तरस्येकारोकारौ आदेशौ भवतः ॥ *उदा०*—अगमः ३ पूर्वा३न् ग्रामा३न् अग्निभूता३ इ, पटा३ उ। भद्रं करोषि माणवक ३ अग्निभूता३ इ, पटा३ उ। होतव्यं दीक्षितस्य गृहा ३ इ। आयुष्मानेधि अग्निभूता ३ इ, पटा ३ उ। उक्षान्नाय वशान्नाय सोमपृष्ठाय वेधसे, स्तोमैर्विधेमाग्नया ३ इ (ऋ० ८।४३।११) ॥

भाषार्थः—[अप्रगृह्यस्य] अप्रगृह्यसंज्ञक [एचः] एच्, जो [अदूराद्धूते] दूर से बुलाने विषय में न हो तो प्लुत करने के प्रसङ्ग में उस एच्

के [*पूर्वस्य अर्धस्य*] पूर्वार्ध भाग को [*आत्*] आकारादेश होता है, और वह प्लुत होता है, तथा [*उत्तरस्य*] उत्तर वाले भाग को [*इदुतौ*] इकार उकार आदेश होते हैं ॥ ये एच् समाहार (मिले हुये) वर्ण हैं, ऐसा पूर्व सूत्र में कह चुके हैं, सो उनके पूर्व वाले आधे भाग को आकार एवं उत्तरभाग को इकार उकार हो गया। पूर्व सूत्रों से उदात्त अनुदात्त स्वरित जैसा प्लुत कहा है वैसा ही आकार आदेश यहाँ होता है। इकार उकार तो उदात्त ही होते हैं, ('उदात्तः' के अधिकार से सम्बन्धित होने से) ऐसा जानना चाहिये ॥ प्रथम उदाहरण में *अनुदात्तं प्रश्ना०* (८।२।१००) से प्लुत को अनुदात्त, द्वितीय में भी (अभिपूजित में) इसी सूत्र से प्लुत को अनुदात्त हुआ है। तृतीय उदाहरण में *विचार्यमाणानाम्* (८।२।९७) से उदात्त प्लुत, चतुर्थ में *प्रत्यभिवादेऽशूद्रे* से तथा पञ्चम में *याज्यान्तः* (८।२।९०) से उदात्त प्लुत हुआ है ऐसा जानें। भाष्य में इस सूत्र के विषय का परिगणन कर दिया है, सो हमने भी तद्वत् ही उदाहरण दर्शा दिये हैं ॥

तयोर्य्वावचि संहितायाम् ॥८।२।१०८॥

तयोः ६।२॥ य्वौ १।२॥ अचि ७।१॥ संहितायाम् ७।१॥ *स०*—यश्च वश्च य्वौ, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—प्लुतः ॥ *अर्थः*—तयोरिदुतोर्यकारवकारादेशौ भवतोऽचि परतः संहितायां विषये ॥ *उदा०*—अग्ना ३ याशा, पटा ३ वाशा, अग्ना ३ यिन्द्रम्, पटा ३ वुदकम् ॥

भाषार्थः—[*तयोः*] उनके अर्थात् प्लुत के प्रसङ्ग में एच् के उत्तरार्ध को जो इकार उकार पूर्व सूत्र से विधान कर आये हैं, उन इकार उकार के स्थान में क्रमशः [*य्वौ*] य् व् हो जाते हैं, [*अचि*] अच् परे रहते [*संहितायाम्*] सन्धि के विषय में ॥ *इको यणचि* (६।१।७४) की दृष्टि में ये इकार उकार *पूर्वत्रासिद्धम्* से असिद्ध हैं, अतः *इको यणचि* से यणादेश हो नहीं सकता था, इसलिये यह सूत्र बनाया ॥ अग्ने आशा, पटो आशा यहाँ पूर्व सूत्रोक्तानुसार प्रश्नान्त (८।२।१००) अभिपूजितादि किसी अर्थ में प्लुत होकर पूर्व सूत्र से आकारादेश एवं उत्तरार्ध को इकार उकार होकर 'अग्ना ३ इ आशा, पटा ३ उ आशा' रहा। प्रकृत सूत्र से अच् परे रहते य् व् होकर अग्ना ३ याशा, पटा ३ वाशा आदि प्रयोग बन गये। अग्ना ३ इ इन्द्रम्, पटा ३ उ उदकम् यहाँ *अकः सवर्णे दीर्घः*

(६।१।९७) की दृष्टिमें इ उ असिद्ध होने से सवर्णदीर्घ नहीं होता, इसी से य् व् आदेश हो जाते हैं ।।

यहाँ से *'संहितायाम्'* का अधिकार अध्याय की समाप्ति पर्यन्त ८।४।६७ तक जायेगा ।।

।। इति द्वितीयः पादः।।

—:०:—

तृतीयः पादः

मतुवसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि ।।८।३।१।।

मतुवसोः ६।२।। रु लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ।। सम्बुद्धौ ७।१।। छन्दसि ७।१।। *स०*—मतुश्च वस् च मतुवसौ तयोः'''इतरेतरद्वन्द्वः ।। *अनु०*—संहितायाम्, पदस्य ।। *अर्थः*—मत्वन्तस्य वस्वन्तस्य च पदस्य रुरित्ययमादेशो भवति संहितायां सम्बुद्धौ परतः छन्दसि विषये ।। *उदा०*—मत्वन्तस्य—इन्द्रं मरुत्व इह पाहि सोमम् (ऋ० ३।५१।७) हरिवो मेदिनं त्वा (ऋ० खिल० १०।१२८।१) । वस्वन्तस्य—मीढ्वस्तोकाय तनयाय मृड (ऋ० २।३३।१४) ।।

भाषार्थः—[*मतुवसोः*] मत्वन्त तथा वस्वन्त पद को संहिता में [*सम्बुद्धौ*] सम्बुद्धि परे रहते [*छन्दसि*] वेद विषय में [*रु*] रु आदेश होता है ।। हरिवो मेदिनम् की सिद्धि सूत्र ८।२।१५ में देखें । मरुत्व यहाँ भी उसी प्रकार मरुत् शब्द से मतुप् नुमागमादि एवं *झयः* (८।२।१०) से मतुप् को वत्व होकर मरुत्वन् रहा । न् को प्रकृत सूत्र से रु तथा उस रु को 'इह' परे रहते *भो भगो०* (८।३।१७) से य् एवं उस य् का *लोपः शाकल्यस्य* (८।३।१९) से लोप होकर 'मरुत्व इह' बना । 'मीढ्वस्तोकाय' की सिद्धि सूत्र ६।१।१२ में देखें । मिह् से लिट् के स्थान में क्वसु एवं निपातन से अद्विर्वचनादि करके मीढ्वन्स् सु = मीढ्वन् रहा । यह वस्वन्त पद है, अतः अन्त्य अल् को रुत्व हो गया, पश्चात् विसर्जनीय एवं सत्व हो गया ।।

यहाँ से 'रु' की अनुवृत्ति ८।३।१२ तक जायेगी ।।

अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा ॥८।३।२॥

अत्र अ० ॥ अनुनासिकः १।१॥ पूर्वस्य ६।१॥ तु अ० ॥ वा अ० ॥ अनु०—रु, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—इत उत्तरं यस्य स्थाने रुर्विधीयते ततः पूर्वस्य तु वर्णस्य वाऽनुनासिकादेशो भवतीत्यधिकारो वेदितव्यः ॥ अधिकारसूत्रमिदम् ॥ *उदा०*— वक्ष्यति–समः सुटि– सँस्कर्त्ता, संस्कर्त्ता। सँस्कर्त्तुम्, संस्कर्त्तुम्। सँस्कर्त्तव्यम् संस्कर्त्तव्यम् ॥

भाषार्थः—[*अत्र*] यहाँ से आगे जिसको रु विधान करेंगे उससे [*पूर्वस्य*] पूर्व के वर्ण को [*तु*] तो [*वा*] विकल्प से [*अनुनासिकः*] अनुनासिक आदेश होता है, ऐसा अधिकार इस रुत्व विधान के प्रकरण में समझना चाहिये ॥ इस प्रकार इस सूत्र का अधिकार ८।३।१२ तक समझ लेना चाहिये। प्रत्येक सूत्रों में अनुवृत्ति में या सूत्रार्थ में इसे कहने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि यह इस 'रु प्रकरण' का सार्वत्रिक नियम है, जिसे एक स्थान पर समझने से काम चल जाता है ॥ 'रु' का यहाँ विभक्तिविपरिणाम से पञ्चमी में अर्थ होगा ॥ सँस्कर्त्ता अनुनासिक[1] होकर तथा पक्ष में जब अनुनासिक नहीं होगा तो ८।३।४ से अनुस्वार होकर संस्कर्त्ता प्रयोग बनेगा। अनुस्वार पक्ष में प्रयोगत्रय बनेंगे, यह हम *सुट् कात् पूर्वः* (६।१।१३१) सूत्र में सिद्धि सहित दिखा चुके हैं, वहीं देख लें। अनुनासिक पक्ष में भी दो सकार, तथा *अनचि च* (८।४।४६) से द्वित्व होकर तीन सकार वाले सँस्कर्त्ता सँस्स्कर्त्ता प्रयोग बनते हैं। हमने उदाहरणों में द्विसकारक ही प्रयोग दर्शा दिये हैं, किन्तु इनके सकार भेद से अनुनासिक पक्ष में दो[2] एवं अनुस्वार पक्ष में ३ प्रयोग होकर (देखो ६।१।१३१) कुल ५ प्रयोग बनेंगे ऐसा जानें ॥ *वा शरि* (८।३।३६) में व्यवस्थित विभाषा होने से यहाँ विसर्जनीय पक्ष नहीं बनता, इसका विशेष व्याख्यान द्वितीयावृत्ति का विषय है ॥

---

१. वर्णोच्चारणशिक्षा में ँ इस चिह्न से युक्त वर्ण की अनुनासिक संज्ञा कही है।

२. *समो वा लोपमेक इच्छन्ति* (भा० वा० ८।२।५) इस वार्त्तिक से वस्तुतः अनुनासिक पक्ष में भी 'म्' लोप होने से एक सकार होकर प्रयोगत्रय होते हैं। इस प्रकार कुल ६ प्रयोग हुये ॥

आतोऽटि नित्यम् ॥८।३।३॥

आतः ६।१॥ अटि ७।१॥ नित्यम् १।१॥ *अनु०*—अनुनासिकः पूर्वस्य, रु, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—अटि परतो रोः पूर्वस्याकारस्य स्थाने नित्यमनुनासिकादेशो भवति संहितायां विषये ॥ *उदा०*—महाँ असि (ऋ० ६।६६।१६—३।४६।२) महाँ इन्द्रो य ओजसा (ऋ० ८।६।१)। देवाँ अच्छा दीद्यत् (ऋ० ३।१।१) ॥

भाषार्थः—[*अटि*] अट् परे रहते रु से पूर्व [*आतः*] आकार को [*नित्यम्*] नित्य [3]अनुनासिक आदेश होता है ॥ महान् देवान् के न् को *दीर्घादटि समानपादे* (८।३।९) से रु हुआ है, अतः उस 'रु' से पूर्व आ को विकल्प से अनुनासिक पूर्व सूत्र से प्राप्त था, नित्य विधान करने के लिये यह सूत्र है ॥ रु को य् (८।३।१७) एवं उसका लोप पूर्ववत् उदाहरणों में हो ही जायेगा ॥

अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः ॥८।३।४॥

अनुनासिकात् ५।१॥ परः १।१॥ अनुस्वारः १।१॥ *अनु०*—पूर्वस्य, रु, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—रोः पूर्वोऽनुनासिकादन्यो यो वर्णः = यस्यानुनासिको न विहितस्ततः परोऽनुस्वार आगमो भवति संहितायां विषये ॥ *उदा०*—संस्कर्त्ता, संस्कर्त्तव्यम्। पुंस्कामा, भवांश्चरति ॥

भाषार्थः—रु से पूर्व वर्ण जो [*अनुनासिकात्*] अनुनासिक से अन्य है, अर्थात् जिसे अनुनासिक नहीं विधान किया उससे [*परः*] परे [*अनुस्वारः*] अनुस्वार आगम होता है संहिता में ॥ 'अन्य' शब्द का अध्याहार करके सूत्रार्थ यहाँ सम्पन्न होगा ॥ जिस पक्ष में *अत्रानुनासिकः पूर्वस्य०* (८।३।२) से अनुनासिक आदेश नहीं होता, उस पक्ष में अनुस्वार आगम हो जायेगा ऐसा जानें, क्योंकि तभी रु से पूर्व अनुनासिक से अन्य वर्ण मिल सकेगा ॥ सिद्धि प्रकार एवं विशेष परिज्ञान के लिये ८।३।२ एवं ६।१।१३१ सूत्र देखें ॥

समः सुटि ॥८।३।५॥

समः ६।१॥ सुटि ७।१॥ *अनु०*—रु, पदस्य, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—

---

३. नित्य ग्रहण प्रायिकत्व द्योतनार्थ है, अतः क्वचित् अनुस्वार भी देखा जाता है। 'वा' ग्रहण से समान कोटिक विकल्प होता है।

सम इत्येतस्य रुर्भवति सुटि परतः संहितायां विषये ॥ *उदा०*—संस्कर्त्ता संस्कर्त्तुम्, संस्कर्त्तव्यम् ॥

भाषार्थः—[*समः*] सम् को रु होता है [*सुटि*] सुट् परे रहते संहिता विषय में ॥ *अलोन्त्यस्य* (१।१।५१) से अन्त्य अल् को रु होगा ॥ अनुस्वार एवं अनुनासिक तथा सकार के भेद से कुल ६ प्रयोग बनते हैं जो कि सूत्र ८।३।२ एवं ६।१।१३१ में दिखा दिये हैं ॥

पुमः खय्यम्परे ॥८।३।६॥

पुमः ६।१॥ खयि ७।१॥ अम्परे ७।१॥ *स०*—अम् (प्रत्याहार) परो यस्मात् स अम्परस्तस्मिन्'''बहुव्रीहिः॥ *अनु०*—रु, पदस्य, संहितायाम्॥ *अर्थः*—पुम् इत्येतस्य रुर्भवति अम्परे खयि परतः संहितायाम् ॥ *उदा०*—पुंसि कामोऽस्याः पुँस्कामा पुँस्स्कामा, पुंस्कामा, पुंस्स्कामा । पुँस्पुत्रः, पुँस्स्पुत्रः, पुंस्पुत्रः, पुंस्स्पुत्रः । पुंसः चली पुँश्चली, पुँश्श्चली, पुंश्चली, पुंश्श्चली ॥

भाषार्थः—[*अम्परे*] अम् प्रत्याहार परे है जिससे ऐसे [*खयि*] खय् (प्रत्याहार) के परे रहते [*पुमः*] पुम् को (अन्त्य अल् को) रु होता है संहिता में ॥ 'पुम् कामा' यहाँ पुम् से परे क् खय् प्रत्याहार में तथा उससे परे 'आ' अम् में है, अतः अम्परक खय् परे रहते म् को रु हो गया । पूर्ववत् रु को विसर्जनीय तथा *वा शरि* (८।३।३६) से सत्व करके पूर्व वर्ण को पक्ष में अनुनासिक एवं अनुस्वार तथा पक्ष में *अनचि च* (८।४।४६) से स् को द्वित्व करने के भेद से चार प्रयोग बनेंगे । इसी प्रकार सबमें जानें । पुँश्चली आदि में स् को *स्तोः श्चुना श्चुः* (८।४।३९) से श् भी हुआ है ॥ पुँस्कामा आदि में *कुप्वो ≍क≍ पौ च* (८।३।३७) की प्रवृत्ति व्यवस्थित विभाषा होने से नहीं होती, यथा ८।३।२ के उदाहरणों में *वा शरि* से पाक्षिक विसर्जनीय नहीं हुआ था ॥

यहाँ से '*अमपरे*' की अनुवृत्ति ८।३।८ तक जायेगी ॥

नश्छव्यप्रशान् ॥८।३।७॥

नः ६।१॥ छवि ७।१ ॥ अप्रशान् १।१, षष्ठ्यर्थे प्रथमा ॥ *स०*—न प्रशान् अप्रशान्, नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—अम्परे, रु, पदस्य, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—प्रशान्वर्जितस्य नकारान्तस्य पदस्य रुर्भवत्यम्परे छवि

परतः संहितायां विषये ॥ उदा०—भवाँश्छादयति, भवांश्छादयति। भवाँश्चिनोति, भवांश्चिनोति। भवाँष्टीकते, भवांष्टीकते। भवाँस्तरति, भवांस्तरति॥

भाषार्थः—[*अप्रशान्*] प्रशान् को छोड़कर जो [*नः*] नकारान्त पद उनको अम्परक [*छवि*] छव् प्रत्याहार परे रहते रु होता है, संहिता में॥ पूर्ववत् यहाँ भी द्वित्व करके चार चार प्रयोग बनेंगे, अनुनासिक एवं अनुस्वार का दिखा ही दिया है। रु को विसर्जनीय एवं ८।३।३४ से पूर्ववत् सत्व करके यथाप्राप्त श्चुत्व ष्टुत्व हुये हैं। शेष सब पूर्ववत् है॥

यहाँ से '*नः*' की अनुवृत्ति ८।३।१२ तक तथा '*छवि*' की ८।३।८ तक जायेगी॥

उभयथर्क्षु ॥८।३।८॥

उभयथा अ०॥ ऋक्षु ७।३॥ *अनु०*—नश्छवि, अम्परे, रु, पदस्य, संहितायाम्॥ *अर्थः*—नकारान्तस्य पदस्याम्परे छवि परत उभयथा ऋक्षु भवति—रुर्वा नकारो वा॥ पूर्वेण नित्ये प्राप्ते विकल्प्यते॥ उदा०—तस्मिंस्त्वा दधाति। तस्मिँस्त्वा दधाति। तस्मिन्त्वा दधाति॥

भाषार्थः—नकारान्त पद को अम्परक छव् प्रत्याहार परे रहते [*ऋक्षु*] पादयुक्त मन्त्रों[1] में [*उभयथा*] दोनों प्रकार से होता है, अर्थात् एक पक्ष में रु एवं पक्ष में नकार ही रहता है॥ पूर्व सूत्र से नित्य प्राप्त था, विकल्प कर दिया॥ पूर्ववत् छव् त् से परे अम् प्रत्याहार व् परे है ही, अतः विकल्प हो गया॥

यहाँ से '*ऋक्षु*' की अनुवृत्ति ८।३।९ तक जायेगी॥

दीर्घादटि समानपादे ॥८।३।९॥

दीर्घात् ५।१॥ अटि ७।१॥ समानपादे ७।१॥ *स०*—समानश्च असौ पादश्च समानपादस्तस्मिन्''कर्मधारयस्तत्पुरुषः॥ *अनु०*—ऋक्षु, नः, रु, पदस्य, संहितायाम्॥ *अर्थः*—दीर्घादुत्तरस्य पदान्तस्य नकारस्य ऋक्षु

---

१. ऋक् शब्द से पादबद्ध मन्त्रों का ग्रहण होता है, केवल ऋग्वेद का ही नहीं। ऋक् का लक्षण जैमिनि ने 'यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था सा ऋक्' (मी० २।१।३५) अर्थात् जिन मन्त्रों में अर्थानुकूल पादव्यवस्था होती है वे ऋक् शब्द वाच्य होते हैं, किया है।

रुर्भवत्यटि परतस्तौ चेन्निमित्तनिमित्तिनौ समानपादे भवतः ॥ उदा०—परिधीँ रति (ऋ० ६।१०७।१६) । देवाँ अच्छा दीद्यत् (ऋ० ३।१।१) महाँ इन्द्रो य ओजसा (ऋ० ८।६।१) ॥

भावार्थः—[*दीर्घात्*] दीर्घ से उत्तर नकारान्त पद को [*अटि*] अट् परे रहते पादबद्ध मन्त्रों में रु होता है, यदि निमित्त (जिसको मानकर कार्य हो) तथा निमित्ति (अर्थात् जिसको विधि करनी है) दोनों [*समानपादे*] एक ही पाद में हों ॥ समान शब्द का यहाँ एक अर्थ गृहीत है, तथा पाद से ऋचा (मन्त्र) का पाद लिया जायेगा ॥ सर्वत्र उदाहरणों में *आतोऽटि नित्यम्* (८।३।३) से नित्य ही रु से पूर्व वर्ण को अनुनासिक हुआ है ॥

नॄन्पे ॥८।३।१०॥

नॄन् लुप्तषष्ठ्यन्तनिर्देशः ॥ पे ७।१॥ *अनु०*—नः, रु, पदस्य, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—नॄन् इत्येतस्य नकारस्य रुर्भवति पशब्दे परतः संहितायां विषये ॥ *उदा०*—नॄँः पाहि, नॄंः पाहि । नॄँः प्रीणीहि, नॄंः प्रीणीहि ॥

भावार्थः—[*नॄन्*] नॄन् शब्द के नकार को [*पे*] प परे रहते रु होता है ॥ 'प' में अकार उच्चारणार्थ है ॥ रु को विसर्जनीय (८।३।१५) होकर उस विसर्जनीय को पक्ष में प् परे रहते उपध्मानीय आदेश होकर तथा पक्ष में विसर्जनीय ही रहकर नॄँः पाहि नॄँ ⌣पाहि दो प्रयोग बनेंगे । उनके भी अनुनासिक एवं अनुस्वार का भेद करके दो प्रयोग होंगे । इस प्रकार कुल ४ प्रयोग बनेंगे, ऐसा जानें । मूल उदाहरणों में दो ही दर्शाये हैं ॥

स्वतवान्पायौ ॥८।३।११॥

स्वतवान्, लुप्तषष्ठ्यन्तनिर्देशः ॥ पायौ ७।१॥ *अनु०*—नः, रु, पदस्य, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—स्वतवान् इत्येतस्य नकारस्य रुर्भवति, पायुशब्दे परतः संहितायां विषये ॥ *उदा०*—भुवस्तस्य स्वतवाँः पायुरग्ने (ऋ० ४।२।६) ॥

भावार्थः—[*स्वतवान्*] स्वतवान् शब्द के नकार को रु होता है [*पायौ*] पायु शब्द परे रहते ॥ स्वतवान् यह वैदिक उदाहरण है, अतः

इसका अनुस्वार एवं उपध्मानीय पक्ष का उदाहरण वैदिक प्रयोगों में प्राप्त होने पर ही देना शक्य है ॥सिद्धि सूत्र ७।१।८३ में देखें ॥

कानाम्रेडिते ॥८।३।११॥

कान् , लुप्तषष्ठ्यन्तनिर्देशः ॥ आम्रेडिते ७।१॥ *अनु०*—नः, रु, पदस्य, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—कान् इत्येतस्य नकारस्य रुर्भवति, आम्रेडिते परतः संहितायां विषये ॥ *उदा०*—कांस्कानामन्त्रयते । कांस्कान्भोजयति । काँस्कानामन्त्रयते, काँस्कान्भोजयति ॥

भाषार्थः- [*कान्*] कान् शब्द के नकार को रु होता है [*आम्रेडिते*] आम्रेडित परे रहते ॥ किम् शब्द के द्वितीया बहुवचन का 'कान्' रूप है, वीप्सा अर्थ में (८।१।४) द्वित्व होकर कान् कान् (किस किसको) बना । अब कान् आम्रेडित के परे रहते पूर्व वाले कान् के न् को रुत्व एवं रु को विसर्जनीय तथा *विसर्जनीयस्य सः* (८।३।३४) से विसर्जनीय को सत्व एवं पूर्व वर्ण को अनुनासिक, अनुस्वार होकर कांस्कान् बन गया । यहाँ कांस्कान् का कस्कादि गण में पाठ मानने से पक्ष में *कुप्वोः ≍क≍पौ च* (८।३।३७) से जिह्वामूलीय आदेश नहीं होता । क्योंकि कस्कादि गण में पढ़े होने से *कस्कादिषु च* (८।३।४८) से सकार को सकार ही रहता है, अर्थात् जिह्वामूलीय नहीं होता ॥

ढो ढे लोपः ॥८।३।१२॥

ढः ६।१॥ ढे ७।१॥ लोपः १।१॥ *अनु०*—संहितायाम् ॥ *अर्थः*—ढकारे परतो ढकारस्य लोपो भवति संहितायां विषये ॥ *उदा०*—लीढम् , उपगूढम् ॥

भाषार्थः—[*ढे*] ढकार परे रहते [*ढः*] ढकार का [*लोपः*] लोप होता है संहिता में ॥ सिद्धियाँ सूत्र ६।३।१०९ में देखें ॥

यहाँ से '*लोपः*' की अनुवृत्ति ८।३।१४ तक जायेगी ॥

रो रि ॥८।३।१४॥

रः ६।१॥ रि ७।१॥ *अनु०*—लोपः, पदस्य, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—पदस्य रेफस्य रेफे परतो लोपो भवति संहितायां विषये ॥ *उदा०*—नीर-

क्तम् , दूरक्तम् , अग्नी रथः, इन्दू रथः, पुना रक्तं वासः, प्राता राजक्रयः, अजर्घाः ॥

भाषार्थः—पद के [*रः*] रेफ का [*रि*] रेफ परे रहते लोप होता है संहिता में ॥ पद के रेफ कहने से पद के अवयवरूप पदान्त अपदान्त सभी रेफों का लोप होता है ॥ नीरक्तम् आदि की सिद्धि सूत्र ६।३।१०९ में तथा अजर्घाः की परि० ८।२।३७ में देखें। यहाँ अपदान्त रेफ का लोप हुआ है ॥

यहाँ से 'रः' की अनुवृत्ति ८।३।१७ तक जायेगी ॥

खरवसानयोर्विसर्जनीयः ॥८।३।१५॥

खरवसानयोः ७।२॥ विसर्जनीयः १।१॥ *स०*—खर् च अवसानं च खरवसाने, तयोः'''इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—रः, पदस्य, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—रेफान्तस्य पदस्य खरि परतोऽवसाने च विसर्जनीयादेशो भवति संहितायां विषये ॥ *उदा०*—वृक्षश्छादयति, प्लक्षश्छादयति, वृक्षस्तरति, प्लक्षस्तरति । अवसाने— वृक्षः, प्लक्षः ॥

भाषार्थः—रेफान्त पद को [*खरवसानयोः*] खर् परे रहते तथा अवसान में [*विसर्जनीयः*] विसर्जनीय आदेश होता है संहिता में ॥ वृक्षश्छादयति आदि में वृक्ष के सु का रुत्व विसर्जनीय होकर उस विसर्जनीय को *विसर्जनीयस्य सः* (८।३।३४) से सत्व होकर श्चुत्व हुआ है। वृक्षः के स्वाद्युत्पत्ति आदि की प्रक्रिया परि० १।१।१ के भागः के समान जानें। *विरामोऽवसानम्* (१।४।१०९) से अवसान संज्ञा होती है। *अलोऽन्त्यस्य* (१।१।५१) से अन्त्य अल् रेफ को ही विसर्जनीय सर्वत्र होगा ॥

यहाँ से '*विसर्जनीयः*' की अनुवृत्ति ८।३।१६ तक जायेगी ॥

रोः सुपि ॥८।३।१६॥

रोः ६।१॥ सुपि ७।१॥ *अनु०*—विसर्जनीयः, रः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—रु इत्येतस्य रेफस्य सुपि परतो विसर्जनीयादेशो भवति। *उदा०*—पयस्-पयःसु । सर्पिस्-सर्पिःषु । यशस्-यशःसु ॥

भाषार्थः—[*रोः*] 'रु' के रेफ को [*सुपि*] सुप् परे रहते विसर्जनीय आदेश होता है॥ 'सुपि' से यहाँ सप्तमीबहुवचन सुप् विभक्ति का ग्रहण है, न कि २१ सुपों का॥ पूर्व सूत्र से ही रु के रेफ को विसर्जनीय आदेश सिद्ध था पुनर्वचन नियमार्थ है, अर्थात् सुप् (७।३) परे रहते रु के रेफ को ही विसर्जनीय हो, अन्य किसी रेफ को न हो॥ सर्पिःषु में *नुम्विसर्ज०* (८।३।५८) से षत्व हुआ है। पयस् + सु = पय रु सु = पयर् सु = पयःसु॥

यहाँ से '*रोः*' की अनुवृत्ति ८।३।१७ तक जायेगी॥

भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि ॥८।३।१७॥

भोभगोअघोअपूर्वस्य ६।१॥ यः १।१॥ अशि ७।१॥ *स०*—भोश्च भगोश्च अघोश्च अश्च भोभगोअघोआः, इतरेतरद्वन्द्वः। भोभगोअघोआः पूर्वाः यस्य स भोभ···अपूर्वस्तस्य···बहुव्रीहिः॥ *अनु०*—रोः, रः, संहितायाम्॥ *अर्थः*—भो, भगो, अघो इत्येवं पूर्वस्य अवर्णपूर्वस्य च रोः रेफस्य यकारादेशो भवति, अशि परतः संहितायां विषये॥ *उदा०*—भो अत्र। भगो अत्र। अघो अत्र। भो ददाति, भगो ददाति, अघो ददाति। अवर्णपूर्वस्य—क आस्ते, ब्राह्मणा ददति, पुरुषा ददति॥

भाषार्थः—[*भोभ···पूर्वस्य*] भो भगो अघो तथा अवर्ण पूर्व में है जिस रु के उस रु के रेफ को [*यः*] यकार आदेश होता है [*अशि*] अश् परे रहते॥ भो सु अत्र = भो र् अत्र = र् को य् होकर भो य् अत्र = यहाँ य् का लोप *ओतो गार्ग्यस्य* (८।३।२०) से हो गया तो भो अत्र बना। भो य् ददाति में *हलि सर्वेषाम्* (८।३।२२) से य् का लोप हुआ है। इसी प्रकार भगो अत्र, भगो ददाति आदि में जानें। 'क र् आस्ते' आदि में र् से पूर्व अवर्ण तथा अश् परे है। ब्राह्मणा ददति प्रयोग बहुवचन जस् में हैं॥ *भोभगोअघो०* यहाँ सूत्र में सन्धि कार्य सौत्र मानकर नहीं हुये॥

यहाँ से '*भोभगोअघोअपूर्वस्य*' की अनुवृत्ति ८।३।२२ तक तथा '*अशि*' की ८।३।२० तक जायेगी॥

व्योर्लघुप्रयत्नतरः शाकटायनस्य ॥८।३।१८॥

व्योः ६।२॥ लघुप्रयत्नतरः १।१॥ शाकटायनस्य ६।१॥ *स०*—वश्च यश्च व्यौ तयोः...इतरेतरद्वन्द्वः। लघुः प्रयत्नो यस्य स लघुप्रयत्नः, बहुव्रीहिः। अतिशयेन लघुप्रयत्नो लघुप्रयत्नतरः॥ *अनु०*—भोभगो-

अघोअपूर्वस्य, अशि, पदान्तस्य, संहितायाम् ।। *अर्थः*—भोभ
अवर्णपूर्वयोः पदान्तयोः वकारयकारयोर्लघुप्रयत्नतर आदेशो
अशि परतः शाकटायनस्याचार्यस्य मतेन ।। लघुप्रयत्नतरत्वम्
स्थानकरणशैथिल्यम् ।। *उदा०*—भोयत्र, भगोयत्र, अघोयत्र ।
पूर्वस्य—कयास्ते, क आस्ते । काक आस्ते, काकयास्ते । अस्मायुद्ध
उद्धर । असावादित्यः, असा आदित्यः । द्वावत्र, द्वा अत्र । ः
द्वा आनय ।।

भाषार्थः—भो भगो अघो तथा अवर्ण पूर्ववाले जो प
[*व्योः*] वकार यकार उनको [*लघुप्रयत्नतरः*] लघुप्रयत्नतर
होता है अश् परे रहते [*शाकटायनस्य*] शाकटायन आचा
में ।। उच्चारण में स्थान (तालु आदि) करण (जिह्वामूलादि) व
लता, अर्थात् जिसके उच्चारण में थोड़ा बल पड़े उसे लघुप्रय
हैं, अतिशय लघुप्रयत्न लघुप्रयत्नतर कहाता है । यह वर्ण
शिक्षा का विषय है । इस प्रकार उदाहरणों में पूर्व सूत्र से य् होकर
प्रयत्नतर आदेश करने पर *स्थानेऽन्तरतमः* (१।१।४६) से य् को य्
व् ही लघुप्रयत्नतर आदेश हुआ, अर्थात् लोप नहीं हुआ । अस्मै
लेकर आगे के सब उदाहरणों में *एचोऽयवायावः* (६।१।७५) से
होकर य् व् को लघुप्रयत्नतर आदेश हुआ है, शेष में पूर्व सूत्र
है । य् व् का उत्तर सूत्र ८।३।१९ से शाकल्य के मत में लोप क
शाकल्य ग्रहण वहाँ विकल्पार्थ है, अतः लोप एवं लघुप्रयत्नतर
(विकल्प) कयास्ते आदि में दिखाये हैं । ओकार से उत्तर 'अल

१. *भोभगोअघो०* सूत्र से विहित य् अलघुप्रयत्नतर = सामान्य
है उसका लोपः शाकल्यस्य से विकल्प से लोप होता है । अलोप पक्ष
लघुप्रयत्नतर आदेश हो जाता है । ओकारान्तों से गार्ग्य के मत में
होता है ।

वस्तुतः य् व् का त्रिविध उच्चारण होता है । पदादि में पूर्णप्रयत्न
में लघुप्रयत्न से, पदान्त में लघुतर प्रयत्न से यह त्रिविध उच्चारण स्वा
इसे ही याज्ञवल्क्य शिक्षा में क्रमशः गुरु लघु और लघुतर कहा है ।
वकारोच्चारण को दर्शाने के लिए माध्यन्दिनपाठ में द्वित्व रूप से लिख
'व्वायवस्थ' । पदादि यकार को भी पुरा काल में द्वित्व रूप से ही

य् व् का *ओतो गार्ग्यस्य* (८।३।२०) से नित्य लोप होता है सो उसके भो अत्र आदि रूप बनेंगे। लघुप्रयत्नतर आदेश वाले य् व् के तो भोयत्र भगोयत्र ही रूप बनेंगे, अतः इनके पाक्षिक रूप नहीं दर्शाये हैं ।।

यहाँ से '*व्योः*' की अनुवृत्ति ८।३।२२ तक जायेगी ।।

लोपः शाकल्यस्य ।।८।३।१९।।

लोपः १।१।। शाकल्यस्य ६।१।। *अनु०*—व्योः, अपूर्वस्य अशि, पदस्य, संहितायाम् ।। *अर्थः*—पदान्तयोर्वकारयकारयोरवर्णपूर्वयोर्लोपो भवति शाकल्यस्याचार्यस्य मतेन अशि परतः ।। *उदा०*—क आस्ते, कयास्ते। काक आस्ते, काकयास्ते। अस्मा उद्धर, अस्मायुद्धर। द्वा अत्र, द्वावत्र। असा आदित्यः, असावादित्यः ।।

भाषार्थः—अवर्ण पूर्व वाले पदान्त यकार वकार का [*शाकल्यस्य*] शाकल्य आचार्य के मत में [*लोपः*] लोप होता है ।। सिद्धियाँ पूर्व सूत्र में ही देख लें ।।

विशेषः—शाकल्य ग्रहण विकल्पार्थ है। उसके विना भी पूर्व सूत्र में लघुप्रयत्नतर आदेश एवं इस सूत्र में लोप कह देने से दो पक्ष सिद्ध ही थे, पुनः शाकल्य ग्रहण के विकल्प से (अर्थात् पाणिनि मुनि के मतानुसार) लोप विकल्प होकर अलघुप्रयत्नतर का एक पक्ष में लोप एवं एक पक्ष में श्रवण होकर तीन प्रयोग बनते हैं अर्थात्—एक पक्ष लघुप्रयत्नतर आदेश का, एवं द्वितीय अलघुप्रयत्नतर के लोप तथा तृतीय अलघुप्रयत्नतर के श्रवण का ।।

यहाँ से '*लोपः*' की अनुवृत्ति ८।३।२२ तक जायेगी ।।

ओतो गार्ग्यस्य ।।८।३।२०।।

ओतः ५।१।। गार्ग्यस्य ६।१।। *अनु०*—लोपः, व्योः, अशि, पदस्य,

था 'य्यजमानस्य' (द्र० हमारा सं० १४७१ का पदपाठ)। उत्तर काल में यकार को षकार के समान मध्योदररेखा से युक्त लिखने की परिपाटी चल पड़ी। पदादि यकार को गुरु उच्चारण करते हुए ईषत्स्पृष्ट प्रयत्न के स्थान पर प्रमाद से निर्हत = प्रयत्नाधिक्य रूप दोष से स्पृष्ट प्रयत्न में परिणति हो जाने से यजुर्वेद में य् के स्थान में जकार का उच्चारण होने लग गया। अपभ्रंशों में पदादि यकार के जकार में परिणति का भी यही कारण है यथा—जमुना जजमान। यु० मी० ।।

संहितायाम् ॥ *अर्थः*—ओकारादुत्तरस्य यकारस्य लोपो भवति गार्ग्यस्याचार्यस्य मतेनाशि परतः ॥ *उदा०*—भो अत्र, भगो अत्र भो इदम्, भगो इदम् ॥ नित्यार्थोऽयमारम्भः, ओकारात् परस्य वकारस्यासंभवात् यकारस्य नित्यं लोप एव भवति न लघुप्रयत्नतरादेश इति ॥

भाषार्थः—[*ओतः*] ओकार से उत्तर यकार का लोप होता है [*गार्ग्यस्य*] गार्ग्य आचार्य के मत में ॥ ओकार से उत्तर 'व्' का सम्भव ही न होने से केवल य् का सम्बन्ध सूत्रार्थ में किया है। प्रकृत भो भगो अघो के ओकार से उत्तर य् का लोप उदाहरणों में हुआ है ॥ यहाँ गार्ग्य ग्रहण पूजार्थ है, अतः नित्य ही लोप होता है ॥

विशेषः—पूर्व सूत्र में ही 'भोभगोअघो' की अनुवृत्ति आकर लोप सिद्ध था, पुनः यह नित्यार्थ सूत्र है सो य् का नित्य लोप हो जाता है, लघुप्रयत्नतर यकारादेश (८।३।१८) भी नहीं होता। इस विषय में ८।३।१८ सूत्र की टिप्पणी द्रष्टव्य है ॥

उञि च पदे ॥८।३।२१॥

उञि ७।१॥ च अ० ॥ पदे ७।१॥ *अनु०*—लोपः, व्योः, अपूर्वस्य, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—अवर्णपूर्वयोः पदान्तयोर्व्योर्लोपो भवति उञि च पदे परतः ॥ *उदा०*—स उ एकविंशतिः, स उ एकाग्निः ॥

भाषार्थः—अवर्ण पूर्व वाले पदान्त य् व् का [*उञि*] उञ् [*पदे*] पद के परे रहते [*च*] भी लोप होता है ॥ *लोपः शाकल्यस्य* से विकल्प से लोप प्राप्त था, नित्यार्थ यह सूत्र है, अतः लघुप्रयत्नतर आदेश नहीं होता ॥

हलि सर्वेषाम् ॥८।३।२२॥

हलि ७।१॥ सर्वेषाम् ६।३॥ *अनु०*—लोपः, व्योः, भोभगोअघोअपूर्वस्य, पदस्य, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—भोभगोअघोअपूर्वस्य पदान्तस्य यकारस्य हलि परतो सर्वेषामाचार्याणां मतेन लोपो भवति ॥ *उदा०*—भो हसति। भगो हसति। अघो हसति। भो याति। भगो याति। अघो याति। बालका हसन्ति ॥

भाषार्थः—भो, भगो, अघो तथा अवर्ण पूर्व वाले पदान्त यकार का [*हलि*] हल् परे रहते [*सर्वेषाम्*] सब आचार्यों के मत में लोप होता है ॥

विशेषः—'सर्वेषाम्' ग्रहण से शाकटायन के मत में भी हल् परे रहते लोप होता है, अर्थात् लघुप्रयत्नतर नहीं होता ॥

यहाँ से '*हलि*' की अनुवृत्ति ८।३।२३ तक जायेगी ॥

मोऽनुस्वारः ॥८।३।२३॥

मः ६।१॥ अनुस्वारः १।१॥ *अनु०*—हलि, पदस्य, संहितायाम् ॥ *अर्थः*— पदान्तस्य मकारस्य अनुस्वारादेशो भवति हलि परतः ॥ *उदा०*— कुण्डं हसति, वनं हसति । कुण्डं याति, वनं याति ॥

भाषार्थः—पदान्त [*मः*] मकार को [*अनुस्वारः*] अनुस्वार आदेश होता है, हल् परे रहते, सन्धि करने में[1] ॥

यहाँ से '*अनुस्वारः*' की अनुवृत्ति ८।३।२४ तक तथा '*मः*' की ८।३।२६ तक जायेगी ॥

नश्चापदान्तस्य झलि ॥८।३।२४॥

नः ६।१॥ च अ० ॥ अपदान्तस्य ६।१॥ झलि ७।१॥ *स०*—पदस्य अन्तः पदान्तः, षष्ठीतत्पुरुषः । न पदान्तोऽपदान्तस्तस्य' 'नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—मोऽनुस्वारः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—नकारस्य मकारस्य चापदान्तस्यानुस्वारादेशो भवति, झलि परतः ॥ *उदा०*—नकारस्य—पयांसि, यशांसि । सर्पींषि, धनूंषि । मकारस्य—आक्रंस्यते, आचिक्रंसते, अधिजिगांसते ॥

---

१. इस सूत्र से जो अनुस्वार होता है उसको *वा पदान्तस्य* (८।४।५८) से परसवर्ण आदेश विकल्प से होता है । उत्तर सूत्र से होने वाले अनुस्वार को *अनुस्वारस्य०* (८।४।५७) से नित्य परसवर्ण होता है । वेद में पदान्त अनुस्वार का परसवर्ण भी व्यवस्थित है । तदनुसार ऋग्वेद में अनुस्वार रहता है, शुक्ल यजुर्वेद में नित्य परसवर्ण होता है । (यहाँ वैदिक पाठ ही अभिप्रेत है, योरोपियन संस्करण तथा उनके आधार पर छपे अन्य संस्करणों में पदान्त में अनुस्वार देखा जाता है वह वैदिक पाठ से विपरीत है) अपदान्त में तो नित्य परसवर्ण होता ही है । तदनुसार यजुर्वेद में केवल 'र श ष स ह' इन पाँच वर्णों के परे ही अनुस्वार रहता है । यजुर्वेद में अनुस्वार का भी गुरु लघु भेद से द्विविध उच्चारण होता है, अतः यजुर्वेद में र श ष स ह से पूर्व प्रयुक्त विशिष्ट चिह्न अनुस्वार के ही द्विविध उच्चारण के द्योतक हैं स्वतन्त्र वर्ग नहीं हैं । 'ग्वम्' ऐसा उच्चारण तो सर्वथा ही अशास्त्रीय है । यु० मी० ॥

भाषार्थः—[*अपदान्तस्य*] अपदान्त [*नः*] नकार [*च*] तथा चकार से मकार को भी [*झलि*] झल् परे रहते अनुस्वार आदेश होता है ॥ पयांसि, यशांसि आदि की सिद्धि परि० १।१।४६ में देखें। आङ् पूर्वक क्रम् धातु के लृट् लकार में *आङ उद्गमने* (१।३।४०) से आत्मनेपद होकर आक्रंस्यते तथा सन् में *पूर्ववत्सनः* (१।३।६२) से आत्मनेपद होकर आचिक्रंसते बना है। अधिजिगांसते की सिद्धि सूत्र २।४।४८ में देखें। यहाँ तीनों स्थलों में मकार को अनुस्वार हुआ है ॥

मो राजि समः क्वौ ॥८।३।२५॥

मः ६।१॥ राजि ७।१॥ समः ६।१॥ क्वौ ७।१॥ *अनु०*—मः, पदस्य, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—समो मकारस्य मकार आदेशो भवति, क्विप्प्रत्ययान्ते राजृधातौ परतः ॥ *उदा०*—सम्राट्, साम्राज्यम् ॥

भाषार्थः—[*समः*] सम् के [*मः*] मकार को मकारादेश [*क्वौ*] क्वि प्रत्ययान्त [*राजि*] राजृ धातु के परे रहते होता है ॥ सम्राट् की सिद्धि परि० ३।२।६१ में देखें। साम्राज्यम् में क्विबन्त सम्राज् शब्द से गुणवचनब्रा० (५।१।१२३) से ष्यञ् प्रत्यय हुआ है। यहाँ *नश्चापदान्तस्य* से अनुस्वार की प्राप्ति थी, मकार को मकार कहने से नहीं हुआ ॥ मकार को मकारवचन पूर्व सूत्रों से प्राप्त अनुस्वार के निवृत्त्यर्थ है ॥

यहाँ से '*मः*' की अनुवृत्ति ८।३।२७ तक जायेगी ॥

हे मपरे वा ॥८।३।२६॥

हे ७।१॥ मपरे ७।१॥ वा अ० ॥ *स०*—मः परो यस्मात् स मपरस्तस्मिन्...बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*— मः, मः, पदस्य, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—मकारपरे हकारे परतो पदान्तस्य मकारस्य वा मकार आदेशो भवति ॥ *उदा०*—किम् ह्मलयति, किं ह्मलयति। कथम् ह्मलयति, कथं ह्मलयति ॥

भाषार्थः—[*मपरे*] मकार परे है जिससे ऐसे [*हे*] हकार के परे रहते पदान्त मकार को [*वा*] विकल्प से मकारादेश होता है ॥ पक्ष में पूर्व सूत्र से प्राप्त (८।३।२३) अनुस्वार हो जायेगा ॥ किम्, कथम् से परे ह्मलयति में मकारपरक हकार है, अतः विकल्प हो गया ॥

यहाँ से '*हे*' की अनुवृत्ति ८।३।२७ तक तथा '*वा*' की ८।३ तक जायेगी ॥

नपरे नः ॥८।३।२७॥

नपरे ७।१॥ नः १।१॥ *स०*—नः परो यस्मात् स नपरस्तस्मिन्... बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—हे, वा, मः, पदस्य, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—नकारपरे हकारे परतो पदान्तस्य मकारस्य वा नकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—किन्ह्नुते, किंह्नुते । कथन्ह्नुते, कथं ह्नुते ॥

भाषार्थः—[*नपरे*] नकारपरक हकार परे रहते पदान्त मकार को विकल्प से [*नः*] नकारादेश होता है ॥ पक्ष में अनुस्वार हो जायेगा ॥

ङ्णोः कुक्टुक् शरि ॥८।३।२८॥

ङ्णोः ६।२॥ कुक्टुक् १।१॥ शरि ७।१॥ *स०*—ङश्च णश्च ङ्णौ, तयोः...इतरेतरद्वन्द्वः । कुक् च टुक् च कुक्टुक्, समाहारद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—वा, पदस्य, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—पदान्तयोः ङकारणकारयोः क्रमेण कुक् टुक् इत्येतावागमौ विकल्पेन भवतः शरि परतः ॥ *उदा०*—ङकारस्य—प्राङ्क्शेते, प्राङ् शेते । प्राङ्क्षष्ठः, प्राङ् षष्ठः । प्राङ्क्साये, प्राङ् साये । णकारस्य—वण्ट्शेते, वण् शेते ॥

भाषार्थः—पदान्त [*ङ्णोः*] ङकार तथा णकार को यथासङ्ख्य करके [*कुक्टुक्*] कुक् तथा टुक् आगम विकल्प करके [*शरि*] शर् प्रत्याहार परे रहते होता है ॥ प्राङ् आदि ङकारान्त पद हैं, सो शेते आदि के परे रहते कुक् आगम अन्त को (१।१।४५) होकर प्राङ् कुक् शेते = प्राङ्क्शेते बना । वण् को टुक् होकर वण्ट्शेते बन गया ॥

डः सि धुट् ॥८।३।२९॥

डः ५।१॥ सि ७।१॥ धुट् १।१॥ *अनु०*—वा, पदस्य, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—डकारान्तात् पदादुत्तरस्य सकारादेः पदस्य वा धुट् आगमो भवति ॥ *उदा०*—श्वलिट्त्साये, श्वलिट्साये । मधुलिट्त्साये, मधुलिट्साये ॥

भाषार्थः—[*डः*] डकारान्त पद से उत्तर [*सि*] सकारादि पद को विकल्प से [*धुट्*] धुट् का आगम होता है ॥ श्वलिट् तुक् साये = श्वलिट्त्साये ॥

यहाँ से '*सि धुट्*' की अनुवृत्ति ८।३।३० तक जायेगी ॥

नश्च ॥८।३।३०॥

नः ५।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—सि धुट्, वा, पदस्य, संहितायाम्
अर्थः—नकारान्तात् पदादुत्तरस्य सकारादेः पदस्य वा धुडागमो भवति
उदा०—भवान्त्साये, भवान् साये । महान्त्साये, महान् साये ॥

भाषार्थः—[नः] नकारान्त पद से उत्तर [च] भी सकारादि प
को विकल्प से धुट् का आगम होता है ॥

यहाँ से 'नः' की अनुवृत्ति ८।३।३१ तक जायेगी ॥

शि तुक् ॥८।३।३१॥

शि ७।१॥ तुक् १।१॥ *अनु०*—नः, वा, पदस्य, संहितायाम्
अर्थः—पदान्तस्य नकारस्य शकारे परतो वा तुक् आगमो भवति
उदा०—भवाञ्छशेते भवाञ्शेते । भवाञ्च्छेते, भवाञ्छेते । छत्वा
सिद्धत्वात् तत्पक्षेऽपि तुग्वा भवति ॥

भाषार्थः—पदान्त नकार को [शि] शकार परे रहते [तुक्]
आगम विकल्प से होता है ॥ भवान् तुक् शेते = भवान् त् शेते
शश्छोऽटि (८।४।६२) से श् को छ् विकल्प से होकर भवान् त्
भवान् त् शेते रहा । परत्वात् छत्व पहले करने पर उसे असिद्ध मा
तुक् होगा । पश्चात् *स्तोः श्चुना श्चुः* (८।४।३९) लगकर त् को च
च् कर लेने पर न् को ञ् (८।४।३९) हो गया । जब तुक् नहीं हुआ
भवाञ्शेते भवाञ्छेते यहाँ भी पूर्ववत् श्चुत्व हो गया ॥

ङमो ह्रस्वादचि ङमुण्नित्यम् ॥८।३।३२॥

ङमः ५।१॥ ह्रस्वात् ५।१॥ अचि ७।१॥ ङमुट् १।१॥ नित्यम्
स०—ङम् च उट् च ङमुट्, समाहारद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—पदस्य, संहिताया
अर्थः—ङम इति ङमुडित्युभयत्रापि प्रत्याहारग्रहणम् । उडिति
ङकारादिभिः सम्बध्यते ॥ ह्रस्वात् परो यो ङम् तदन्तात् पदादुत्तर
नित्यं[1] ङमुडागमो भवति ॥ ङणनेभ्यो यथासङ्ख्यं ङुट्, णुट्, नुट्

---

१. नित्यप्रहसितः, नित्यप्रज्ज्वलित इतिवत् प्रायिकार्थोऽयं नित्यशब्
कचिन्न भवति । यथा—*अणुदित् सवर्णस्य०* (१।१।६८) इति तिङन्त इति

आगमा भवन्ति ॥ उदा०—ङकारान्तात् ङुट्–प्रत्यङ्ङास्ते । णकारान्ता-ण्णुट्–वण्णास्ते, वण्णवोचत् । नकारान्तान्नुट्–कुर्वन्नास्ते, कुर्वन्नवोचत् । कृषन्नास्ते, कृषन्नवोचत् ॥

भाषार्थः—[*ह्रस्वात्*] ह्रस्व पद से उत्तर जो [*ङमः*] ङम् तदन्त पद से उत्तर [*अचि*] अच् को [*नित्यम्*] नित्य ही [*ङमुट्*] ङमुट् आगम होता है ॥ ङम् तथा ङमुट् दोनों ही स्थलों में प्रत्याहार का ग्रहण किया गया है । ङमुट् यहाँ ङम् अर्थात् ङ् ण् न् इन प्रत्येक अक्षरों के साथ उट् का सम्बन्ध करके ङुट्, णुट्, नुट् ये आगम बन जाते हैं । ङ् ण् न् ये तीन अक्षर ङम् प्रत्याहार में हैं, अतः ङ् को ङुट्, ण् को णुट्, तथा न् को नुट् आगम होता है ॥ प्रत्यङ् ङुट् आस्ते = प्रत्यङ्ङास्ते । वण् णुट् आस्ते = वण्णास्ते ॥

यहाँ से '*अचि*' की अनुवृत्ति ८।३।३३ तक जायेगी ॥

मय उञो वो वा ॥८।३।३३॥

मयः ५।१॥ उञः ६।१॥ वः १।१॥ वा अ० ॥ *अनु०*—अचि, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—मय उत्तरस्य उञो विकल्पेन वकारादेशो भवति, अचि परतः ॥ *उदा०*—शमु अस्तु वेदिः, शम्वस्तु वेदिः । तदु अस्य परेतः, तद्वस्य परेतः । किमु आवपनम्, किम्वावपनम् ॥

भाषार्थः—[*मयः*] मय् प्रत्याहार से उत्तर [*उञः*] उञ् अव्यय को अच् परे रहते [*वा*] विकल्प करके [*वः*] वकारादेश होता है ॥ उञ् के ञ् की इत् संज्ञा होकर 'उ' शेष रहता है, सो उस उ को विकल्प से व् हो गया । शम् उ अस्तु = शम्वस्तु वेदिः । वः में अकार उच्चारणार्थ है ॥ उञ् की उञ ऊँ (१।१।१७) से प्रगृह्य संज्ञा हुई है, अतः *प्लुत प्रगृह्या अचि नित्यम्* (६।१।१२१) से प्रकृतिभाव होने से *इको यणचि* (६।१।७४) से यणादेश प्राप्त नहीं था, एतदर्थ यह सूत्र है ॥

विसर्जनीयस्य सः ॥८।३।३४॥

विसर्जनीयस्य ६।१॥ सः १।१॥ *अनु०*—संहितायाम् । *खरवसानयो०* इत्यतः 'खरि' इत्यनुवर्त्तते मण्डूकप्लुतगत्या ॥ *अर्थः*—खरि परतो विसर्जनीयस्य सकार आदेशो भवति ॥ *उदा०*—वृक्षश्छादयति, प्लक्षश्छा-

दयति । वृक्षष्ठकारः, प्लक्षष्ठकारः । वृक्षस्थकारः, प्लक्षस्थकारः । वृक्षश्चिनोति, प्लक्षश्चिनोति । वृक्षष्टीकते, प्लक्षष्टीकते । वृक्षस्तरति प्लक्षस्तरति ॥

भाषार्थः—खर् परे रहते [*विसर्जनीयस्य*] विसर्जनीय को [*सः*] सकार आदेश होता है ॥ सत्व कर लेने पर यथायोग श्चुत्व ष्टुत्व हो ही जायेंगे ॥ वस्तुतः खर् में से छ, ठ, थ, च, ट, त इनके परे रहते ही विसर्जनीय को सत्व होता है, क्योंकि अन्य अक्षरों के परे रहते अन्य आदेश कहेंगे ॥

यहाँ से '*विसर्जनीयस्य*' की अनुवृत्ति ८।३।५४ तक जायेगी ॥

शर्परे विसर्जनीयः ॥८।३।३५॥

शर्परे ७।१॥ विसर्जनीयः १।१॥ *स०*—शर् परो यस्मात् स शर्परस्तस्मिन्'' बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—विसर्जनीयस्य, संहितायाम् । पूर्ववत् खरीत्यनुवर्त्तते ॥ *अर्थः*—शर्परे खरि परतो विसर्जनीयस्य विसर्जनीय आदेशो भवति ॥ *उदा०*—शशः क्षुरम्, पुरुषः क्षुरम् । अद्भिः प्सातम्, वासः क्षौमम् । पुरुषः त्सरुः । घनाघनः क्षोभणश्चर्षणीनाम् ॥

भाषार्थः—[*शर्परे*] शर् (प्रत्याहार) परे है जिससे ऐसे खर् के परे रहते विसर्जनीय को [*विसर्जनीयः*] विसर्जनीय आदेश होता है ॥ विसर्जनीय को विसर्जनीय कहने से पूर्व सूत्र से प्राप्त सत्व एवं *कुप्वोः०* (८।३।३७) से प्राप्त जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय नहीं होते ॥ सर्वत्र उदाहरणों में खर् से परे शर् = श, ष, स हैं ही ॥

यहाँ से '*विसर्जनीयः*' की अनुवृत्ति ८।३।३७ तक जायेगी ॥

वा शरि ॥८।३।३६॥

वा अ० ॥ शरि ७।१॥ *अनु०*—विसर्जनीयः, विसर्जनीयस्य, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—विसर्जनीयस्य विकल्पेन विसर्जनीयादेशो भवति शरि परतः ॥ *उदा०*—वृक्षः शेते, वृक्षश्शेते । प्लक्षः शेते, प्लक्षश्शेते । कवयः षट्, कवयष्षट् । धार्मिकाः सन्तु, धार्मिकास्सन्तु ॥

भाषार्थः—विसर्जनीय को [*वा*] विकल्प से विसर्जनीय आदेश होता है, [*शरि*] शर् परे रहते ॥ पक्ष में जब विसर्जनीय को विसर्जनीय नहीं हुआ तो यथाप्राप्त ८।३।३४ से सत्व हो गया, पश्चात् श्चुत्व ष्टुत्व हो ही जायेंगे ॥

कुप्वोः ≍क≍पौ च ॥८।३।३७॥

कुप्वोः ७।२॥ ≍क≍पौ १।२॥ च अ० ॥ *स०*—कुश्च पुश्च कुपू तयोः'''इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—विसर्जनीयः, विसर्जनीयस्य, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—कवर्गे पवर्गे च परतो विसर्जनीयस्य यथासङ्ख्यं≍(जिह्वामूलीयः)≍ (उपध्मानीयः) इत्येतावादेशौ भवतः, चकाराद्विसर्जनीयश्च ॥ *उदा०*—वृक्ष≍करोति, वृक्षः करोति। वृक्ष≍खनति, वृक्षः खनति। वृक्ष≍पचति, वृक्षः पचति। वृक्ष≍फलति, वृक्षः फलति ॥

भाषार्थः—[*कुप्वोः*] कवर्ग तथा पवर्ग परे रहते विसर्जनीय को यथासङ्ख्य करके [*≍क≍पौ*] ≍क अर्थात् जिह्वामूलीय तथा ≍प अर्थात् उपध्मानीय आदेश होते हैं, [*च*] तथा चकार से विसर्जनीय भी होता है ॥ '≍क≍पौ' यहाँ जिह्वामूलीय उपध्मानीय के चिह्नों के साथ क, एवं प को उच्चारणार्थ रखा है, वस्तुतः आदेश ≍,≍ यही होते हैं ॥ *खरवसान०* (८।३।१५) से खर् परे रहते विसर्जनीय होता है, अतः खर् में से ही कवर्ग पवर्ग के अक्षर कौन २ हैं, देखने हैं, क्योंकि अन्यत्र विसर्जनीय होगा नहीं, इस प्रकार कवर्ग में क ख तथा पवर्ग में प फ अक्षर ही परे मिलेंगे जिनके परे रहते विसर्जनीय को क्रमशः अर्थात् कवर्ग के क, ख परे रहते जिह्वामूलीय, एवं पवर्ग के प, फ परे रहते उपध्मानीय आदेश होते हैं ॥

यहाँ से '*कुप्वोः*' की अनुवृत्ति ८।३।४९ तक जायेगी ॥

सोऽपदादौ ॥८।३।३८॥

सः ६।१॥ अपदादौ ७।१॥ *स०*—पदस्य आदिः पदादिः, षष्ठीतत्पुरुषः। न पदादिरपदादिस्तस्मिन्'''नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—विसर्जनीयस्य, कुप्वोः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—अपदाद्योः कुप्वोः परतो विसर्जनीयस्य सकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—पयस्पाशम्, यशस्पाशम्। पयस्कल्पम्, यशस्कल्पम्। पयस्कम्, यशस्कम्। पयस्काम्यति, यशस्काम्यति ॥

भाषार्थः—[*अपदादौ*] अपदादि (जो पद के आदि का नहीं) कवर्ग तथा पवर्ग परे रहते विसर्जनीय को [*सः*] सकारादेश होता है ॥ पूर्व

सूत्र का यह अपवाद है ॥ *याप्ये पाशप्* (५।३।४७) से पयस्पाशम् में पाशप् प्रत्यय, तथा *ईषदसमाप्तौ०* (५।३।६७) से पयस्कल्पम् में कल्पप् प्रत्यय हुआ है। पयस्कम् में *प्रागिवात्कः* (५।३।७०) से क तथा पयस्काम्यति में *काम्यच्च* (३।१।९) से काम्यच् प्रत्यय हुआ है। सर्वत्र पयस् यशस् के स् को रुत्व विसर्जनीय करके अपदादि विसर्जनीय होने से प्रकृत सूत्र से स् हो गया है ॥

यहाँ से 'सः' की अनुवृत्ति ८।३।५४ तक तथा '*अपदादौ*' की ८।३।३९ तक जायेगी ॥

इणः षः ॥८।३।३९॥

इणः ५।१॥ षः १।१॥ *अनु०*—अपदादौ, कुप्वोः, विसर्जनीयस्य, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—इण उत्तरस्य विसर्जनीयस्य षकारादेशो भवति, अपदाद्योः कुप्वोः परतः ॥ *उदा०*—सर्पिष्पाशम्, यजुष्पाशम् । सर्पिष्कल्पम्, यजुष्कल्पम् । सर्पिष्कम्, यजुष्कम् । सर्पिष्काम्यति, यजुष्काम्यति ॥

भाषार्थः—[*इणः*] इण् से उत्तर विसर्जनीय को [*षः*] षकारादेश होता है, अपदादि कवर्ग पवर्ग के परे रहते ॥ पूर्व सूत्र से सत्व प्राप्त था, इण् से उत्तर तदपवाद षत्व कह दिया ॥ पूर्ववत् उदाहरणों में पाशप् आदि प्रत्यय हुये हैं, सो सर्पिस्, यजुस् के स् को विसर्जनीय होकर षत्व हो गया है ॥

यहाँ से 'षः' की अनुवृत्ति ८।३।४८ तक जायेगी ॥

यहाँ से आगे 'षः' तथा '*सः*' दोनों की अनुवृत्ति चलती है, सो इण् से उत्तर विसर्जनीय जहाँ हो, वहाँ 'षः' का सम्बन्ध तथा अन्यत्र '*सः*' का सम्बन्ध लगेगा ऐसा जानें, तद्वत् ही अनुवृत्ति हम दिखायेंगे ॥

नमस्पुरसोर्गत्योः ॥८।३।४०॥

नमस्पुरसोः ६।२॥ गत्योः ६।२॥ *स०*—नम० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—सः, कुप्वोः, विसर्जनीयस्य, पदस्य, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—नमस् पुरस् इत्येतयोर्गतिसंज्ञकयोर्विसर्जनीयस्य सकारादेशो भवति, कुप्वोः परतः ॥ *उदा०*—नमस्कर्त्ता, नमस्कर्त्तुम्, नमस्कर्त्तव्यम् ॥

भाषार्थः—[*नमस्पुरसोः*] नमस् तथा पुरस् [*गत्योः*] गतिसंज्ञक शब्दों के विसर्जनीय को सकारादेश होता है, कवर्ग पवर्ग परे रहते ॥ नमस् की *साक्षात्प्रभृतीनि च* (१।४।७३) से तथा पुरस् की *पुरोऽव्ययम्* (१।४।६६) से गति संज्ञा होती है ॥ नमः कर्त्ता = नमस्कर्ता ॥

इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्य ॥८।३।४१॥

इदुदुपधस्य ६।१॥ च अ० ॥ अप्रत्ययस्य ६।१॥ *स०*—इच्च उच्च इदुतौ, इतरेतरद्वन्द्वः । इदुतौ उपधा यस्य स, इदुदुपधस्तस्य'''बहुव्रीहिः । न प्रत्ययोऽप्रत्ययस्तस्य'''नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—षः, कुप्वोः विसर्जनीयस्य, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—इकारोपधस्य उकारोपधस्य चाप्रत्ययस्य विसर्जनीयस्य षकार आदेशो भवति, कुप्वोः परतः ॥ *उदा०*—निस्—निष्कृतम्, निष्पीतम् । दुस्—दुष्कृतम्, दुष्पीतम् । बहिस्—बहिष्कृतम्, बहिष्पीतम् । आविस्—आविष्कृतम्, आविष्पीतम् । चतुर्—चतुष्कृतम्, चतुष्कपालम्, चतुष्कण्टकम्, चतुष्कलम् । प्रादुस्—प्रादुष्कृतम्, प्रादुष्पीतम् ॥

भाषार्थः—[*इदुदुपधस्य*] इकार और उकार उपधा में है जिसके ऐसे [*अप्रत्ययस्य*] प्रत्यय भिन्न विसर्जनीय को [*च*] भी षकार आदेश होता है, कवर्ग पवर्ग परे रहते ॥ सर्वत्र उदाहरणों में निः, दुः आदि के विसर्जनीय से पूर्व अर्थात् उपधा में इकार उकार हैं, अतः षत्व हो गया है । स् को रुत्व विसर्जनीय, तत्पश्चात् षत्व करने की प्रक्रिया पूर्ववत् है ॥

तिरसोऽन्यतरस्याम् ॥८।३।४२॥

तिरसः ६।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ *अनु०*—सः, कुप्वोः, विसर्जनीयस्य, पदस्य, संहितायाम् । *नमस्पुरसोर्गत्योः* (८।३।४०) इत्यतः गतेरित्यनुवर्त्तते, मण्डूकप्लुतगत्या ॥ *अर्थः*—तिरसो विसर्जनीयस्य विकल्पेन सकारादेशो भवति, कुप्वोः परतः ॥ *उदा०*—तिरस्कर्त्ता, तिरस्कर्त्तुम्, तिरस्कर्त्तव्यम् । तिरःकर्ता, तिरःकर्त्तुम्, तिरःकर्त्तव्यम् ॥

भाषार्थः—[*तिरसः*] तिरस् के विसर्जनीय को [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प करके सकारादेश होता है, कवर्ग पवर्ग परे रहते ॥ तिरस् की *तिरोऽन्तर्धौ* (१।४।७०) से गति संज्ञा है । पक्ष में विसर्जनीय ही रहेगा । कुप्वोः० (८।३।३७) की प्राप्ति में यह सूत्र है ॥

यहाँ से '*अन्यतरस्याम्*' की अनुवृत्ति ८।३।४४ तक जायेगी ॥

द्विस्त्रिश्चतुरिति कृत्वोऽर्थे ॥८।३।४३॥

द्विस्त्रिश्चतुः अविभक्त्यन्तनिर्देशः[1] ॥ इति अ० ॥ कृत्वोऽर्थे ७।१॥ स०—द्विश्च त्रिश्च चतुश्च द्विस्त्रिश्चतु:, समाहारद्वन्द्वः । कृत्वसः अर्थः कृत्वोऽर्थस्तस्मिन्'''षष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—अन्यतरस्याम्, षः, कुप्वोः, पदस्य, विसर्जनीयस्य, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—द्विस्, त्रिस्, चतुर् इत्येतेषां कृत्वोऽर्थे वर्त्तमानानां विसर्जनीयस्य विकल्पेन षकार आदेशो भवति, कुप्वोः परतः ॥ *उदा०*—द्विष्करोति, द्विः करोति । त्रिष्करोति, त्रिः करोति । चतुष्करोति, चतुःकरोति । द्विष्पचति, द्विःपचति । त्रिष्पचति, त्रिः पचति । चतुष्पचति, चतुः पचति ॥

भाषार्थः—[*कृत्वोऽर्थे*] कृत्वसुच् के अर्थ में वर्त्तमान [*द्विस्त्रिश्चतुः*] द्विस्, त्रिस् तथा चतुर् [*इति*] इनके विसर्जनीय को षकारादेश विकल्प करके होता है, कवर्ग पवर्ग परे रहते ॥ द्वि, त्रि तथा चतुर् शब्दों से *द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच्* (५।४।१८) से सुच् प्रत्यय होकर द्विस्, त्रिस्, चतुस् बनता है । चतुर् सुच्=चतुर् स् यहाँ सुच् के स् का *रात्सस्य* (७।४।२४) से लोप होकर चतुर्=चतुः बना, पश्चात् इस विसर्जनीय को करोति पचति परे रहते षत्व हो गया ॥

इसुसोः सामर्थ्ये ॥८।३।४४॥

इसुसोः ६।२॥ सामर्थ्ये ७।१॥ स०—इस् च उस् च इसुसौ, तयोः'''इतरेतरद्वन्द्वः ॥ समर्थस्य भावः सामर्थ्यम् तस्मिन्''', ब्राह्मणादित्वात् (५।१।१२३) ष्यञ् ॥ *अनु०*—अन्यतरस्याम्, षः, कुप्वोः, विसर्जनीयस्य, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—इस् उस् इत्येतयोर्विसर्जनीयस्यान्यतरस्यां षकारादेशो भवति, सामर्थ्ये सति कुप्वोः परतः ॥ *उदा०*—सर्पिष्करोति, सर्पिः करोति । यजुष्करोति यजुः करोति ॥

भाषार्थः—[*इसुसोः*] इस् तथा उस् के विसर्जनीय को विकल्प से षकारादेश होता है [*सामर्थ्ये*] सामर्थ्य होने पर, कवर्ग पवर्ग परे रहते ॥ अभिप्राय यह है कि इसन्त उसन्त शब्द (जिसका विसर्जनीय हुआ है)

---

१. इतिग्रहणं स्वरूपनिर्देशार्थम्, स्वरूपनिर्देशाय चाविभक्त्यन्तो निर्देशः । यद्वा 'इतिना' इति शुक्लयजुःप्रातिशाख्ये वर्णानामितिना निर्देशः क्रियते तथेहापि निर्देशार्थ इति शब्दः, तेन चाविभक्त्यन्तः ।

का कवर्ग पवर्गादि शब्द जो कि परे हैं, उनके साथ परस्पर सामर्थ्य= सम्बद्धार्थता होने पर षत्व हो ॥ सर्पिस् यजुस् शब्द इसन्त उसन्त हैं ही ॥

यहाँ से 'इसुसोः' की अनुवृत्ति ८।३।४५ तक जायेगी ॥

नित्यं समासेऽनुत्तरपदस्थस्य ॥८।३।४५॥

नित्यम् १।१॥ समासे ७।१॥ अनुत्तरपदस्थस्य ६।१॥ *स०*—उत्तरपदे तिष्ठतीति उत्तरपदस्थः, तत्पुरुषः । न उत्तरपदस्थोऽनुत्तरपदस्थस्तस्य··· नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—इसुसोः, षः, कुप्वोः, विसर्जनीयस्य, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—समासे इसुसोरनुत्तरपदस्थस्य विसर्जनीयस्य नित्यं षत्वं भवति कुप्वोः परतः ॥ *उदा०*—सर्पिषः कुण्डिका = सर्पिष्कुण्डिका, धनुष्कपालम्, सर्पिष्पानम्, धनुष्फलम् ॥

भाषार्थः—[*अनुत्तरपदस्थस्य*] अनुत्तरपदस्थ (जो उत्तरपद में स्थित न हों) इस् उस् के विसर्जनीय को [*समासे*] समास विषय में [*नित्यम्*] नित्य ही षत्व होता है, कवर्ग पवर्ग परे रहते ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ८।३।४७ तक जायेगी ॥

अतः कृकमिकंसकुम्भपात्रकुशाकर्णीष्वनव्ययस्य ॥८।३।४६॥

अतः ५।१॥ कृकमि···कर्णीषु ७।३॥ अनव्ययस्य ६।१॥ *स०*—कृ च कमिश्च कंसश्च कुम्भश्च पात्रञ्च कुशा च कर्णी च कृकमि··· कर्ण्यस्तेषु··· इतरेतरद्वन्द्वः । न अव्ययमनव्ययं तस्य···नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—नित्यं समासेऽनुत्तरपदस्थस्य, सः, विसर्जनीयस्य, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—अकारादुत्तरस्य समासेऽनुत्तरपदस्थस्यानव्ययस्य विसर्जनीयस्य नित्यं सकारादेशो भवति कृ, कमि, कंस, कुम्भ, पात्र, कुशा, कर्णी इत्येतेषु परतः ॥ *उदा०*—कृ—अयस्कारः, पयस्कारः । कमि—अयस्कामः, पयस्कामः । कंस—अयस्कंसः, पयस्कंसः । कुम्भ—अयस्कुम्भः, पयस्कुम्भः । पात्र-अयस्पात्रम्, पयस्पात्रम् । कुशा—अयस्कुशा, पयस्कुशा । कर्णी—अयस्कर्णी, पयस्कर्णी ॥

भाषार्थः—[*अतः*] अकार से उत्तर समास में जो अनुत्तरपदस्थ [*अनव्ययस्य*] अनव्यय का विसर्जनीय उसको नित्य ही सकारादेश

होता है, [कृकमि''कर्णीषु] कृ, कमि (धातु) कंस, कुम्भ, पात्र, कुशा कर्णी इन ८ शब्दों के परे रहते ॥ कुप्वोः ≍क ≍पौ च (८।३।३७) की प्राप्ति में ही इस प्रकरण से सत्व, षत्व कहा गया है, अतः यह सूत्र भी तदपवाद है ॥

अधःशिरसी पदे ॥८।३।४७॥

अधःशिरसी १।२, षष्ठ्यर्थे प्रथमाऽत्र ॥ पदे ७।१॥ स०—अधस् च शिरस् च अधःशिरसी, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—नित्यं समासेऽनुत्तरपदस्थस्य, सः, विसर्जनीयस्य, पदस्य, संहितायाम् ॥ अर्थः—अधस्, शिरस् इत्येतयोर्विसर्जनीयस्य समासेऽनुत्तरपदस्थस्य सकार आदेशो भवति पदशब्दे परतः ॥ उदा०—अधस्पदम्, शिरस्पदम्। अधस्पदी, शिरस्पदी ॥

भाषार्थः—समास में अनुत्तरपदस्थ [अधःशिरसी] अधस् तथा शिरस् के विसर्जनीय को सकार आदेश होता है, [पदे] पद शब्द परे रहते ॥ अधस्पदम् तथा शिरस्पदम् में षष्ठी तत्पुरुष समास हुआ है ॥

कस्कादिषु च ॥८।३।४८॥

कस्कादिषु ७।३॥ च अ० ॥ स०—कस्क आदिर्येषां ते कस्कादयस्तेषु''बहुव्रीहिः ॥ अनु०—सः, षः, कुप्वोः, विसर्जनीयस्य, पदस्य, संहितायाम् ॥ अर्थः—कस्कादिषु गणपठितेषु च विसर्जनीयस्य सकारः षकारो वा यथायोगमादेशो भवति, कुप्वोः परतः ॥ उदा०—कस्कः, कौतस्कुतः, भ्रातुष्पुत्रः ॥

भाषार्थः—[कस्कादिषु] कस्कादि गणपठित शब्दों के विसर्जनीय को [च] भी सकार अथवा षकार आदेश यथायोग से होता है, कवर्ग पवर्ग परे रहते ॥ इण: षः (८।३।३९) सूत्र में कहे अनुसार इण् से उत्तर जहाँ होगा, वहाँ विसर्जनीय को षकार तथा अन्यत्र सकार होगा। कस्कः में किम् को क (७।२।१०३) आदेश होकर 'कः' को वीप्सा में द्वित्व तथा कौतस्कुतः में कुतः को वीप्सा में द्वित्व हुआ है, पुनः उसी विसर्जनीय को सत्व हो गया। कुतस्कुतः होकर तत आगतः (४।३।७४) से अण् तथा अव्ययानां च० (वा० ६।४।१४४) से कुतस्कुतः के टि भाग 'अ' का

लोप होकर कौतस्कुतः बना है ॥ भ्रातुष्पुत्रः में ऋतो विद्या० (६।३।२१) से षष्ठी का अलुक् होकर षत्व हुआ है ॥

छन्दसि वाऽप्राम्रेडितयोः ॥८।३।४९॥

छन्दसि ७।१॥ वा अ० ॥ अप्राम्रेडितयोः ७।२॥ स०—प्रश्च आम्रेडितञ्च प्राम्रेडिते, न प्राम्रेडिते अप्राम्रेडिते तयोः ''द्वन्द्वगर्भनञ्-तत्पुरुषः ॥ अनु०—सः, कुप्वोः, पदस्य, संहितायाम् ॥ अर्थः—प्रशब्दम् आम्रेडितञ्च वर्जयित्वा कुप्वोः परतश्छन्दसि विषये विसर्जनीयस्य वा सकारादेशो भवति ॥ उदा०—अयः पात्रम्, अयस्पात्रम् । विश्वतः-पात्रम्, विश्वतस्पात्रम् । उरुणः कारः, उरुणस्कारः ॥

भाषार्थः—[अप्राम्रेडितयोः] प्र तथा आम्रेडित को छोड़कर जो कवर्ग तथा पवर्ग परे हों तो [छन्दसि] वेद विषय में विसर्जनीय को [वा] विकल्प से सकारादेश होता है ॥ अयःपात्रम् आदि में षष्ठीतत्पुरुष समास कर लेने पर अतः कृकमि० (८।३।४६) से नित्य सत्व प्राप्त था विकल्प कर दिया । 'उरुणः' यहाँ उरु शब्द से उत्तर अस्मद् को बहुवचनस्य वस्नसौ (८।१।२१) से नस् आदेश, तथा नश्च धातुस्थो० (८।४।२६) से णत्व एवं विसर्जनीय होकर उरुणःकारः बना । पक्ष में सत्व होकर उरुणस्कारः बन गया ॥

यहाँ से 'छन्दसि' की अनुवृत्ति ८।३।५४ तक जायेगी ॥

कःकरत्करतिकृधिकृतेष्वनदितेः ॥८।३।५०॥

कःकरत्'''कृतेषु ७।३॥ अनदितेः ६।१॥ स०—कःकर० इत्यत्रेतरे-तरद्वन्द्वः । न अदितिरनदितिस्तस्य'''नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—छन्दसि, सः, पदस्य, संहितायाम् ॥ अर्थः—कः, करत्, करति, कृधि, कृत इत्येतेषु परतोऽनदितेर्विसर्जनीयस्य सकारादेशो भवति छन्दसि विषये ॥ उदा०—कः—विश्वतस्कः । करत्—विश्वतस्करत् । करति—पयस्करति । कृधि—उरुणस्कृधि (ऋ० ८।७५।११) कृत—सदस्कृतम् ॥

भाषार्थः—[कः क'''तेषु] कः, करत्, करति, कृधि, कृत इनके परे रहते [अनदितेः] अदिति को छोड़कर जो विसर्जनीय उसको सकारादेश होता है वेद विषय में ॥ 'कः' कृ का लुङ् में च्लि का लुक् (२।४।८०) बहुलं० (६।४।७५) से अडभाव, गुण एवं ६।१।६६ से तिप का त् लोप

करके रूप है ॥ नस् आदेश (८।१।२१) के विसर्जनीय को यहाँ रुत्व तथा *नश्च धातु०* (८।४।२६) से न् को ण् हुआ है ॥

पञ्चम्याः परावध्यर्थे ॥८।३।५१॥

पञ्चम्याः ६।१॥ परौ ७।१॥ अध्यर्थे ७।१॥ *स०*—अधेरर्थोऽध्यर्थः, तस्मिन्···षष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—छन्दसि, सः, पदस्य, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—अध्यर्थे वर्त्तमानो यः परिस्तस्मिन् परतः पञ्चमीविसर्जनीयस्य सकारादेशो भवति छन्दसि विषये ॥ *उदा०*—दिवस्परि प्रथमं जज्ञे (ऋ० १०।४५।१) अग्निर्हिमवतस्परि । दिवस्परि, महस्परि ॥

भाषार्थः—[*अध्यर्थे*] अधि के अर्थ में वर्त्तमान जो [*परौ*] परि उपसर्ग उसके परे रहते [*पञ्चम्याः*] पञ्चमी के विसर्जनीय को सकारादेश होता है, वेद विषय में ॥ अधि ऊपर अर्थ में है, सो यहाँ उदाहरण में 'परि' अधि के अर्थ में अर्थात् ऊपर अर्थ में है । दिवस्परि··· अर्थात् अग्नि पहले द्यौ लोक से परि = ऊपर उत्पन्न हुआ । इसी प्रकार 'अग्नि हिमवान् से ऊपर' ऐसा अर्थ है ॥

यहाँ से '*पञ्चम्याः*' की अनुवृत्ति ८।३।५२ तक जायेगी ॥

पातौ च बहुलम् ॥८।३।५२॥

पातौ ७।१॥ च अ० ॥ बहुलम् १।१॥ *अनु०*—पञ्चम्याः, छन्दसि, सः, पदस्य, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—पातौ च धातौ परतः पञ्चमीविसर्जनीयस्य बहुलं सकार आदेशो भवति छन्दसि विषये ॥ *उदा०*—दिवस्पातु । राज्ञस्पातु । बहुलग्रहणात् न च भवति—परिषदः पातु ॥

भाषार्थः—[*पातौ*] पा धातु के प्रयोग परे हों तो [च] भी पञ्चमी के विसर्जनीय को [*बहुलम्*] बहुल करके सकार आदेश होता है, वेद विषय में ॥

षष्ठ्याः पतिपुत्रपृष्ठपारपदपयस्पोषेषु ॥८।३।५३॥

षष्ठ्याः ६।१॥ पति···षेषु ७।३॥ *स०*—पति० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—छन्दसि, सः, पदस्य, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—पति, पुत्र, पृष्ठ, पार, पद, पयस्, पोष इत्येतेषु परतश्छन्दसि विषये षष्ठीविसर्जनीयस्य सकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—पति—वाचस्पतिं विश्वकर्माणमूतये

(ऋ० १०।८।७) । पुत्र—दि॒वस्पु॒त्राय॒ सूर्या॑य (ऋ० १०।३७।१) । पृष्ठ—दि॒वस्पृ॒ष्ठे धावमानं सुपर्णम्॒ । पार—अगन्म तमसस्पारम् । पद—इडस्पदे समिध्यसे (ऋ० १०।१९१।१) । पयस्—सूर्यं चक्षुदिवस्पयः । पोष—रायस्पोषं यजमानेषु धत्तम् (ऋ० ८।५९।७) ॥

भाषार्थः—[*पति*···*पोषेषु*] पति, पुत्र, पृष्ठ, पार, पद, पयस्, पोष इन शब्दों के परे रहते वेद विषय में [*षष्ठ्याः*] षष्ठी विभक्ति के विसर्जनीय को सकारादेश होता है ॥ सर्वत्र षष्ठी विभक्ति के विसर्जनीय को सत्व हुआ है । वाचः पतिम् = वाचस्पतिम् अर्थात् वाणी का स्वामी ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ८।३।५४ तक जायेगी ॥

इडाया वा ॥८।३।५४॥

इडायाः ६।१॥ वा अ० ॥ *अनु०*—षष्ठ्याः पतिपुत्रपृष्ठपारपदपयस्पोषेषु, छन्दसि, सः, पदस्य, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—इडायाः षष्ठी-विसर्जनीयस्य वा सकार आदेशो भवति पतिपुत्रादिषु परतः, छन्दसि विषये ॥ *उदा०*—इडायास्पतिः, इडायाःपतिः । इडायास्पुत्रः, इडायाःपुत्रः । इडायास्पृष्ठम्, इडायाः पृष्ठम् । इडायास्पारम्, इडायाः पारम् । इडायास्पदम्, इडायाःपदम् । इडायास्पयः, इडायाःपयः । इडायास्पोषम्, इडायाः पोषम् ॥

भाषार्थः—[*इडायाः*] इडा शब्द के षष्ठी विभक्ति के विसर्जनीय को [*वा*] विकल्प से सकार आदेश होता है पति, पुत्र, पृष्ठ, पार, पद, पयस्, पोष शब्दों के परे रहते वेद विषय में ॥ पूर्व सूत्र से नित्य सत्व प्राप्त था, विकल्पार्थ यह सूत्र है ॥

अपदान्तस्य मूर्धन्यः ॥८।३।५५॥

अपदान्तस्य ६।१॥ मूर्धन्यः १।१॥ *स०*—पदस्य अन्तः पदान्तः, षष्ठीतत्पुरुषः । न पदान्तोऽपदान्तस्तस्य ''नञ्तत्पुरुषः ॥ मूर्धनि भवो मूर्धन्यः, *शरीरावयवाद्यत्* (५।१।६) इति यत्प्रत्ययः ॥ *अर्थः*—आ पादपरिसमाप्तेरपदान्तस्य मूर्धन्यादेशो भवतीत्यधिकारो वेदितव्यः ॥ *उदा०*—वक्ष्यति—आदेशप्रत्यययोः । सिषेच, सुष्वाप । अग्निषु, वायुषु ॥

भाषार्थः—[*अपदान्तस्य*] अपदान्त को [*मूर्धन्यः*] मूर्धन्य आदेश होता है, ऐसा अधिकार पाद की समाप्ति पर्यन्त (८।३।११९) जाता है, ऐसा जानना चाहिये ॥

मूर्धन्य से अभिप्राय मूर्धा से बोले जाने वाले अक्षर से है, सो 'स्' का मूर्धन्य 'ष्' आदेश उदाहरणों में हुआ है॥

षिचिर् क्षरणे ञिष्वप् शये से लिट् में *धात्वादेः षः सः* (६।१।६२) से ष् को स् होकर सिषेच, सुष्वाप बना है। स्वप् के अभ्यास को *लिट्यभ्यास०* (६।१।१७) से सम्प्रसारण होकर सु स्वप् णल्=सु स्वाप् अ, सि सेच् अ रहा। अब यहाँ *धात्वादेः षः सः* से ष् को स् होने से आदेश का स् मानकर *आदेशप्रत्य०* से मूर्धन्य आदेश होकर सिषेच सुष्वाप बन गया। अग्निषु वायुषु में प्रत्यय का स् मानकर षत्व हुआ है॥

सहेः साडः सः ॥८।३।५६॥

सहेः ६।१॥ साडः ६।१॥ सः १।१॥ *अनु०*—अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम्॥ *अर्थः*—सहेर्धातोर्यत् साड्रूपं तस्य सकारस्य मूर्धन्य आदेशो भवति॥ *उदा०*—जलाषाट्, तुराषाट्, पृतनाषाट्॥

भाषार्थः—[*सहेः*] सह् धातु का बना हुआ जो [*साडः*] साड् रूप उसके [*सः*] सकार को मूर्धन्य आदेश होता है॥ जल इत्यादि उपपद रहते सह् धातु से *छन्दसि सहः* (३।२।६३) से ण्वि होकर एवं सह् की उपधा को वृद्धि तथा *हो ढः* (८।२।३१) से ढत्व, तथा जश्त्व होकर 'साड्' रूप बना है, उसीको यहाँ षत्व हुआ है। *अन्येषामपि०* (६।३।१३५) से जल आदि को दीर्घ होकर जलाषाट्, तुराषाट्, पृतनाषाट् बन गया॥

यहाँ से '*सः*' की अनुवृत्ति ८।३।११९ तक जायेगी॥

इण्कोः ॥८।३।५७॥

इण्कोः ५।१॥ *स०*—इण् च कुश्च इण्कु तस्मात्... समाहारद्वन्द्वः। *अर्थः*—इतोऽग्रे वक्ष्यमाणानि कार्याणि इण्कवर्गाभ्यामुत्तरस्य भवन्तीत्यधिकारो वेदितव्यः, आपादपरिसमाप्तेः॥ कु इत्यनेन कवर्गस्य ग्रहणम्, इण् इत्यनेन परणकारेण प्रत्याहारो गृह्यते॥ *उदा०*—सिषेच, सुष्वाप अग्निषु, वायुषु, कर्त्तृषु, गीर्षु, वाक्षु, त्वक्षु॥

भाषार्थः—यह अधिकार सूत्र है। यहाँ से आगे जो भी कार्य कहेंगे वे [*इणकोः*] इण् और कवर्ग से उत्तर होते हैं, ऐसा अधिकार पाद की समाप्ति पर्यन्त जानना चाहिये॥ अग्निषु आदि में इण् से उत्तर तथा वाक्षु त्वक्षु में कवर्ग से उत्तर के उदाहरण हैं। वाच् त्वच् के च् को चोःकुः (८।२।३०) से क् हुआ है, सो सर्वत्र *आदेशप्र०* (८।३।५९) से षत्व हो गया॥ इण् से पर णकार (*लण्* तक के) वाले प्रत्याहार का ग्रहण है॥

नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि ॥८।३।५८॥

नुम्वि···वाये ७।१॥ अपि अ०॥ *स०*—नुम् च विसर्जनीयश्च शर् च नुम्वि···शरः, इतरेतरद्वन्द्वः। नुम्विसर्जनीयशर्भिः व्यवायः नुम्वि···शर्व्यवायस्तस्मिन्···तृतीयातत्पुरुषः॥ *अनु०*—सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम्॥ *अर्थः*—नुम्व्यवायेऽपि विसर्जनीयव्यवायेऽपि शर्व्यवायेऽपि इण्कोरुत्तरस्य सकारस्य मूर्धन्यादेशो भवति॥ *उदा०*—नुम्व्यवाये–सर्पींषि, यजूंषि, हवींषि। विसर्जनीयव्यवाये–सर्पिःषु, यजुःषु, हविःषु। शर्व्यवाये–सर्पिष्षु, यजुष्षु, हविष्षु॥

भाषार्थः—[*नुम्वि···वाये*] नुम्, विसर्जनीय तथा शर् (प्रत्याहार) का व्यवधान होने पर [*अपि*] भी इण् तथा कवर्ग से उत्तर सकार को मूर्धन्य आदेश होता है॥ अभिप्राय यह है कि इण् और कवर्ग से उत्तर जिसे षत्व करना है उसके मध्य में नुम् आदि का व्यवधान हो तो भी षत्व हो जाये॥ सर्पींषि आदि में सर्पिस् शब्द से *जश्शसोःशिः* (७।१।२०) से शि तथा *नपुंसकस्य झलचः* (७।१।७२) से नुम् एवं *सान्तमहतः०* (६।४।१०) से दीर्घ होकर 'सर्पी न् स् इ' रहा। अब यहाँ नुम् के व्यवधान में भी षत्व तथा न् को अनुस्वार (८।३।२४) होकर सर्पींषि बन गया। सर्पिःषु आदि में *वा शरि* से पक्ष में स् को विसर्जनीय तथा पक्ष में सत्व (८।३।३४) होकर सर्पिष्षु बना है। इनके व्यवधान में भी षत्व कर लेने पर सर्पिष्षु आदि में मध्य के स् को ष् (८।४।४०) भी हो गया॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ८।३।११९ तक जायेगी॥

आदेशप्रत्यययोः ॥८।३।५९॥

आदेशप्रत्यययोः ६।२॥ *स०*—आदेशश्च प्रत्ययश्च आदेशप्रत्ययौ तयोः···इतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, सः,

इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—इण्कवर्गाभ्यामुत्तरस्य आदेशो यः सकारः प्रत्ययस्य च यः सकारस्तस्य मूर्धन्यादेशो भवति, संहितायाम् ॥ *उदा०*—आदेशस्य–सिषेच, सुष्वाप। प्रत्ययस्य–अग्निषु, वायुषु, कर्त्तृषु, हर्त्तृषु ॥

भाषार्थः—इण् तथा कवर्ग से उत्तर [*आदेशप्रत्यययोः*] आदेश रूप जो सकार तथा प्रत्यय का जो सकार उसे मूर्धन्यादेश होता है ॥ सिद्धियाँ ८।३।५५ सूत्र पर आ चुकी हैं ॥

शासिवसिघसीनां च ॥८।३।६०॥

शासिवसिघसीनाम् ६।३॥ च अ० ॥ *स०*—शासिश्च वसिश्च घसिश्च शासिवसिघसयस्तेषां···इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—शासि, वसि, घसि इत्येतेषां च सकारस्य इण्कोरुत्तरस्य मूर्धन्यादेशो भवति ॥ अनादेशार्थमिदं सूत्रम् ॥ *उदा०*—शासि–अन्वशिषत् , अन्वशिषताम् , अन्वशिषन् । शिष्टः, शिष्टवान् । वसि–उषितः, उषितवान्, उषित्वा। घसि–जक्षतुः, जक्षुः, अक्षन्नमीमदन्त पितरः ॥

भाषार्थः—इण् तथा कवर्ग से उत्तर [*शासि···सीनाम्*] शासु वस तथा घस् के सकार को [*च*] भी मूर्धन्य आदेश होता है ॥ आदेश का स् न होने से पूर्व सूत्र से षत्व प्राप्त नहीं था, विधान कर दिया ॥ अशिषत् की सिद्धि परि० ३।१।५६ में तथा शिष्टः शिष्टवान् की सूत्र ६।४।३४ में देखें। उषितः उषितवान् में *वचिस्वपि०* (६।१।१५) से सम्प्रसारण एवं *वचिस्वपि०* (७।२।५२) से इट् हुआ है। जक्षतुः जक्षुः तथा अक्षन् की सिद्धि परि० १।१।५७ में देखें। घसि से यहाँ घस्लृ अदने धातु तथा घस्लृ आदेश दोनों का ही ग्रहण है ॥

स्तौतिण्योरेव षण्यभ्यासात् ॥८।३।६१॥

स्तौतिण्योः ६।२॥ एव अ० ॥ षणि ७।१॥ अभ्यासात् ५।१॥ *स०*—स्तौतिश्च णिश्च स्तौतिणी तयोः···इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—अभ्यासादिण उत्तरस्य स्तौतेर्ण्यन्तानां च षत्वभूते सनि परत आदेशसकारस्य मूर्धन्यादेशो भवति ॥ सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः ॥ *उदा०*—तुष्टूषति। ण्यन्तानाम्–सिषेचयिषति। सिषञ्जयिषति, सुष्वापयिषति ॥

भाषार्थः—[*अभ्यासात्*] अभ्यास के इण् से उत्तर [*स्तौतिण्योः*] स्तु (ष्टुञ्) तथा ण्यन्त धातुओं के आदेश सकार को [*एव*] ही षत्वभूत [*षणि*] सन् परे रहते मूर्धन्य आदेश होता है॥ आदेश का सकार होने से *आदेशप्रत्य०* (८।३।५९) से ही षत्व सिद्ध था पुनः यह सूत्र नियमार्थ है, अर्थात्—षत्वभूत सन् के परे रहते तथा अभ्यास के इण् से उत्तर यदि षत्व हो तो स्तौति एवं ण्यन्त धातुओं को ही हो, अन्यों को नहीं, सो सिसिक्षति में नहीं होता॥ सन् को षत्व णत्व करके सूत्र में 'षणि' निर्देश किया है॥ तुष्टूषति की सिद्धि परि० १।२।८ में तथा सुष्वापयिषति की सूत्र ७।४।६७ में देखें। इसी प्रकार षिच् से सिच् सेचयि ष = सिषेचयिषति एवं षन्ज से सिषञ्जयिषति बनेगा। षन्ज के अभ्यास को *सन्यतः* (७।४।७९) से इत्व होता है, तथा *स्तोः श्चुना०* से न् को ञ् हुआ है॥

यहाँ से '*णेः*[1] *षण्यभ्यासात्*' की अनुवृत्ति ८।३।६२ तक जायेगी॥

सः स्विदिस्वदिसहीनां च ॥८।३।६२॥

सः[2] १।१॥ स्विदिस्वदिसहीनाम् ६।३॥ च अ०॥ *स०*—स्विदि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—णेः षण्यभ्यासात्, सः, इण्कोः, अपदान्तस्य, संहितायाम्॥ *अर्थः*—अभ्यासादिण उत्तरस्य स्विदि, स्वदि, सहि इत्येतेषां ण्यन्तानां सकारस्य सकारादेशो भवति षत्वभूते सनि परतः॥ *उदा०*—सिस्वेदयिषति। सिस्वादयिषति। सिसाहयिषति॥

भाषार्थः—अभ्यास के इण् से उत्तर [*स्विदि''हीनाम्*] ञिष्विदा ष्वद तथा षह इन ण्यन्त धातुओं के सकार को [*सः*] सकारादेश होता है, षत्वभूत सन् के परे रहते [च] भी॥ *धात्वादेः षः सः* (६।१।६२) से धातुओं के ष् को स् हुआ है, अतः आदेश का सकार मानकर पूर्व सूत्र से षत्व प्राप्त था, सकार को सकार ही कह देने से उसकी निवृत्ति हो गई॥

प्राक्सितादड्व्यवायेऽपि ॥८।३।६३॥

प्राक् अ०॥ सितात् ५।१॥ अड्व्यवाये ७।१॥ अपि अ०॥ *स०*—

१. एकस्य पदस्यानुवृत्तत्वादेकवचनम्॥
२. न्यासपदमञ्जर्योः 'स स्विदि' पाठः। तथाऽविभक्त्यन्तम्।

अटा व्यवायः अड्व्यवायस्तस्मिन्···तृतीयातत्पुरुषः॥ *अनु०*—सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम्॥ *अर्थः*—प्राक् सितशब्दाद् अड्व्यवायेऽपि मूर्धन्यो भवति अपि ग्रहणादनड्व्यवायेऽपि॥ *उदा०*—वक्ष्यति-*उपसर्गात् सुनोति०* (८।३।६५) इति षत्वं तत्राड्व्यवायेऽपि भवति—अभ्यषुणोत्, पर्यषुणोत्, व्यषुणोत्, न्यषुणोत्॥ अनड्व्यवायेऽपि—अभिषुणोति, परिषुणोति, विषुणोति, निषुणोति॥

भाषार्थः—[*सितात्*] सित शब्द से [*प्राक्*] पहले २ [*अड्व्यवाये*] अट् का व्यवधान होने पर तथा अपि ग्रहण से अट् का व्यवधान न होने पर [*अपि*] भी सकार को मूर्धन्य आदेश होता है॥ तात्पर्य यह है कि इण् और कवर्ग से उत्तर जिसे षत्व करना है उसके मध्य में अट् का व्यवधान हो तो भी षत्व हो जाये॥ सित से *परिनिविभ्यः सेवसित०* (८।३।७०) का सित लिया है, सो उससे पूर्व पूर्व अट् के व्यवधान में भी षत्व होगा॥ अभि अषुणोत् = अभ्यषुणोत्॥

यहाँ से '*अड्व्यवायेऽपि*' की अनुवृत्ति ८।३।७० तक तथा '*प्राक् सितात्*' की ८।३।६४ तक जायेगी॥

स्थादिष्वभ्यासेन चाभ्यासस्य ॥८।३।६४॥

स्थादिषु ७।३॥ अभ्यासेन ३।१॥ च अ०॥ अभ्यासस्य ६।१॥ *स०*—स्था आदिर्येषां ते स्थादयस्तेषु···बहुव्रीहिः॥ *अनु०*—प्राक् सितादड्व्यवायेऽपि, सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम्॥ *अर्थः*—स्थादिषु प्राक् सितशब्दादभ्यासेन व्यवाये सकारस्य मूर्धन्यादेशो भवति, अभ्याससकारस्य च भवतीत्येवं वेदितव्यम्॥ *उदा०*—अभितष्ठौ, परितष्ठौ। अभिषिषेणयिषति, परिषिषेणयिषति। अभिषिषिक्षति, परिषिषिक्षति॥

भाषार्थः—सित से पहले पहले [*स्थादिषु*] स्था इत्यादियों में अर्थात् स्था से लेकर सित पर्यन्त [*अभ्यासेन*] अभ्यास का व्यवधान होने पर भी मूर्धन्य आदेश होता है, [*च*] तथा [*अभ्यासस्य*] अभ्यास को भी मूर्धन्य होता है, ऐसा जानना चाहिये॥ स्था से *उपसर्गात् सुनोति०* (८।३।६५) में जो स्था कहा है, उसका ग्रहण है, सो उस स्था से लेकर सितपर्यन्त अभ्यास के व्यवाय में षत्व होगा॥ अभितष्ठौ में इण् प्रत्याहार अन्त वाला अभ्यास न होने से षत्व की प्राप्ति नहीं थी कह दिया,

एवं षिच धातु से अभिषिषिक्षति में *स्तौतिण्योरेव०* (८।३।६१) के नियम की व्यावृत्ति से षत्व प्राप्त नहीं था, प्रकृत सूत्र से हो गया ॥ अभितष्ठौ की सिद्धि सूत्र ७।१।३४ में देखें ॥ अभिषेणयति की सिद्धि सूत्र ३।१।२५ में देखें, तद्वत् 'अभिसेन णिच्' रहा । *णाविष्ठवत् प्राति०* (वा० ६।४।१५५) से टि लोप होकर अभिसेन् इ इट् सन् रहा । गुण अयादेश करके 'सेनयिष' धातु बनी, तो रूपातिदेश होकर द्वित्व एवं अभ्यास कार्य होकर 'अभि सि सेनयिष' रहा । अब यहाँ आदेश का सकार न होने से *आदेशप्र०* (८।३।५९) से षत्व प्राप्त नहीं था, प्रकृत सूत्र से होकर अभिषिषेणयिषति बन गया ॥

सूत्र में 'अभ्यासस्य' ग्रहण नियमार्थ है, क्योंकि अभ्यास को षत्व तो *उपसर्गात् सुनोति०* से उपसर्ग से उत्तर सिद्ध ही था सो नियम हुआ कि—स्थादियों में ही अभ्यास के सकार को मूर्धन्य हो अन्यों को नहीं ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ८।३।७० तक जायेगी ॥

उपसर्गात् सुनोतिसुवतिस्यतिस्तौतिस्तोभतिस्थासेनय-सेधसिचसञ्जस्वञ्जाम् ॥८।३।६५॥

उपसर्गात् ५।१॥ सुनोति''स्वञ्जाम् ६।३॥ *स०*—सुनोति० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—स्थादिष्वभ्यासेन चाभ्यासस्य, अड्व्यवायेऽपि, सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—उपसर्गस्थान्निमित्तादुत्तरस्य सुनोति, सुवति, स्यति, स्तौति, स्तोभति, स्था, सेनय, सेध, सिच, सञ्ज स्वञ्ज इत्येतेषां सकारस्य मूर्धन्यादेशो भवति, अड्व्यवायेऽपि, स्थादिषु अभ्यासेन चाभ्यासस्य ॥ *उदा०*—सुनोति—अभिषुणोति, परिषुणोति । अभ्यषुणोत्, पर्यषुणोत् । सुवति—अभिषुवति, परिषुवति । अभ्यषुवत्, पर्यषुवत् । स्यति—अभिष्यति, परिष्यति । अभ्यष्यत्, पर्यष्यत् । स्तौति—अभिष्टौति, परिष्टौति । अभ्यष्टौत्, पर्यष्टौत् । स्तोभति—अभिष्टोभते, परिष्टोभते । अभ्यष्टोभत, पर्यष्टोभत । स्था—अभिष्ठास्यति, परिष्ठास्यति । अभ्यष्ठात्, पर्यष्ठात् । अभ्यासेन व्यवाये—अभितष्ठौ, परितष्ठौ । सेनय—अभिषेणयति, परिषेणयति । अभ्यषेणयत्, पर्यषेणयत् । अभिषिषेणयिषति, परिषिषेणयिषति । सेध—अभिषेधति, परिषेधति । अभ्यषेधत्, पर्यषेधत् । अभिषिषेध, परिषि-

षेध । सिच— अभिषिञ्चति, परिषिञ्चति । अभ्यषिञ्चत्, पर्यषिञ्चत् अभिषिषिक्षति, परिषिषिक्षति । सञ्ज—अभिषजति, परिषजति । अभ्यषजत्, पर्यषजत् । अभिषिषङ्क्षति, परिषिषङ्क्षति । स्वञ्ज—अभिष्वजते, परिष्वजते । अभ्यष्वजत, पर्यष्वजत । अभिषिष्वङ्क्षते, परिषिष्वङ्क्षते ॥

भाषार्थः—[*उपसर्गात्*] उपसर्गस्थ निमित्त से उत्तर [*सुनोति*... *स्वञ्जाम्*] सुनोति, सुवति, स्यति, स्तौति, स्तोभति, स्था, सेनय, सेध (षिधू) सिच, सञ्ज, स्वञ्ज इनके सकार को मूर्धन्यादेश होता है, अट् के व्यवाय में भी तथा स्थादियों के अभ्यास के व्यवाय में, एवं अभ्यास को भी ॥ षत्व कर लेने पर *रषाभ्यां नो णः०* (८।४।१) *अट्कुप्वाङ्०* (८।४।२) से णत्व सर्वत्र यथायोग करके हो जायेगा अड्व्यवाय में सर्वत्र लङ् के उदाहरण दिये हैं। षू धातु के लङ् में *अचिश्नु०* (६।४।७०) से उवङ् करके अभिषुवति आदि प्रयोग बने हैं षो धातु के ओकार का *ओतः श्यनि* (७।३।७१) से लोप होकर अभिष्यति आदि प्रयोग जानें । अभिष्टास्यति (लृट्) आदि में षत्व कर लेने पर ष्टुत्व भी हो जायेगा । स्तौति की सिद्धि परि० १।१।६० में की है, तद्वत् अभिष्टौति आदि में समझें । अभिषेणयति आदि प्रयोग पूर्व सूत्र में देखें। षिच् धातु से सिञ्चति में *शे मुचादीनाम्* (७।१।५९) से नुम् आगम होता है ॥ षञ्ज धातु से *दंशसञ्ज०* (६।४।२५) से नकारलोप होकर अभिषजति आदि प्रयोग बनेंगे । सन् परे रहते नकार लोप नहीं होगा तो *नश्चापदान्तस्य०* (८।३।२४) से अनुस्वार एवं *अनुस्वारस्य ययि०* (८।४।५७) लगाकर अभिषिषङ्क्षति बन गया । चोः कुः (८।२।३०) से यहाँ ज् को ग् तथा चर्त्व क् (८।४।५४) भी हो गया है । इसी प्रकार ष्वञ्ज से अभिषिष्वङ्क्षते बनेगा ॥ इण् और कवर्ग से उत्तर षत्व होता है, अतः ये षत्व के निमित्त हैं, सो उपसर्गस्थ निमित्त से उत्तर कहने का अभिप्राय यह है कि 'यदि इण् अथवा कवर्ग उपसर्ग में स्थित हों तो उनसे उत्तर...' ॥

यहाँ से '*उपसर्गात्*' की अनुवृत्ति ८।३।७७ तक जायेगी ॥

सदिरप्रतेः ॥८।३।६६॥

सदिः १।१॥ अत्र षष्ठ्याः स्थाने प्रथमा ॥ अप्रतेः ५।१॥ *स०*—न

प्रतिरप्रतिस्तस्मात्‌ ``नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—उपसर्गात्‌, स्थादिष्वभ्यासेन चाभ्यासस्य, अड्व्यवायेऽपि, सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम्‌ ॥ *अर्थः*—उपसर्गस्थान्निमित्तादप्रतेरुत्तरस्य सदेः सकारस्य मूर्धन्यादेशो भवति, अड्व्यवायेऽपि, स्थादिष्वभ्यासेन चाभ्यासस्य ॥ *उदा०*—निषीदति, विषीदति । न्यषीदत्‌, व्यषीदत्‌ । निषसाद, विषसाद ॥

भाषार्थः—[*अप्रतेः*] प्रतिभिन्न उपसर्गस्थ निमित्त से उत्तर [*सदिः*] षद्लृ धातु के सकार को मूर्धन्य आदेश होता है अड्व्यवाय एवं अभ्यास के व्यवाय में भी ॥ *सात्‌ पदाद्योः* (८।३।१११) से प्रतिषेध प्राप्त था, तदर्थ यह वचन है ॥ निषीदति आदि में *पाघ्राध्मा०* (७।३।७८) से सद्‌ को सीद्‌ आदेश हुआ है । निषसाद (लिट्‌) में शित्‌ परे न होने से आदेश नहीं हुआ । *सदेः परस्य लिटि* (८।३।११८) के प्रतिषेध से यहाँ अभ्यास से परे वाले सकार को षत्व नहीं हुआ है ॥

स्तन्भेः ॥८।३।६७॥

स्तन्भेः ६।१॥ *अनु०*—उपसर्गात्‌, स्थादिष्वभ्यासेन चाभ्यासस्य, अड्व्यवायेऽपि, सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम्‌ ॥ *अर्थः*— उपसर्गस्थान्निमित्तादुत्तरस्य स्तन्भेः सकारस्य मूर्धन्यादेशो भवति, अड्व्यवायेऽपि, स्थादिष्वभ्यासेन चाभ्यासस्य ॥ *उदा०*—अभिष्टभ्नाति, परिष्टभ्नाति । अभ्यष्टभ्नात्‌, पर्यष्टभ्नात्‌ । अभितष्टम्भ, परितष्टम्भ ॥

भाषार्थः—उपसर्गस्थ निमित्त से उत्तर [*स्तन्भेः*] स्तन्भु के सकार को मूर्धन्य आदेश होता है अट्‌ के व्यवाय एवं अभ्यास व्यवाय में भी ॥ स्तन्भु सौत्र धातु है । *स्तन्भुस्तुन्भु०* (३।१।८२) से श्ना विकरण तथा *अनिदितां०* (६।४।२४) से अनुनासिक लोप होकर अभिष्टभ्नाति आदि प्रयोग बने हैं । अभितष्टम्भ (लिट्‌) यहाँ *शर्पूर्वाः खयः* (७।४।६१) से अभ्यास का खय्‌ शेष रहा है ॥

यहाँ से '*स्तन्भेः*' की अनुवृत्ति ८।३।६८ तक जायेगी ॥

अवाच्चालम्बनाविदूर्ययोः ॥८।३।६८॥

अवात्‌ ५।१॥ च अ० ॥ आलम्बनाविदूर्ययोः ७।२॥ *स०*—आलम्बनञ्च आविदूर्यञ्च आलम्बनाविदूर्ये, तयोः ``इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—

स्तन्भेः, उपसर्गात्, सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम्। *अर्थः*—आलम्बन आविदूर्ये चार्थे, अवोपसर्गादुत्तरस्य स्तन्भेः सकारस्य मूर्धन्यादेशो भवति ॥ आलम्बनमाश्रयणम्। अविदूरस्य भाव आविदूर्यम् ष्यञ्प्रत्ययः ॥ *उदा०*—आलम्बने—अवष्टभ्यास्ते। अवष्टभ्य तिष्ठति आविदूर्ये—अवष्टब्धा सेना, अवष्टब्धा शरत् ॥

भाषार्थः—[*अवात्*] अव उपसर्ग से उत्तर [च] भी स्तन्भु के सकार को [*आलम्बनाविदूर्ययोः*] आलम्बन तथा आविदूर्य अर्थ में मूर्धन्य आदेश होता है ॥ आलम्बन अर्थात् आश्रयण, एवं आविदूर्य अर्थात् समीपता ॥ अवष्टभ्यास्ते (आश्रयण करके बैठा है) यहाँ अवष्टभ्य ल्यबन्त है। अवष्टब्धा सेना (सेना समीप है) यहाँ क्त प्रत्यय करके *झषस्त०* (८।२।४०) से धत्व *झलां जश् झशि* (८।४।५२) से भ् को ब् एवं टाप् होकर अवष्टब्धा बना है ॥

यहाँ से '*अवात्*' की अनुवृत्ति ८।३।६९ तक जायेगी ॥

वेश्च स्वनो भोजने ॥८।३।६९॥

वेः ५।१॥ च अ० ॥ स्वनः ६।१॥ भोजने ७।१॥ *अनु०*—अवात्, उपसर्गात्, स्थादिष्वभ्यासेन चाभ्यासस्य, अड्व्यवायेऽपि, सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—वेरुपसर्गादवाच्चोत्तरस्य भोजनार्थे स्वनधातोः सकारस्य मूर्धन्यादेशो भवति, अड्व्यवायेऽपि स्थादिष्वभ्यासेन चाभ्यासस्य ॥ *उदा०*—विष्वणति। व्यष्वणत्। विषष्वाण। अवात्—अवष्वणति। अवाष्वणत्। अवषष्वाण ॥

भाषार्थः—[*वेः*] वि उपसर्ग से उत्तर तथा [च] चकार से अव उपसर्ग से उत्तर [*भोजने*] भोजन अर्थ में [*स्वनः*] स्वन धातु के सकार को मूर्धन्य आदेश होता है, अड्व्यवाय एवं अभ्यास व्यवाय में भी ॥ अवष्वणति का अर्थ है 'मुँह से (मुँह चलाने का) शब्द आवाज़ करते हुए खाता है'। इस प्रकार स्वन धातु शब्दार्थक होते हुये भी भोजन अर्थ में है। *अट्कु०* (८।४।२) से णत्व यहाँ हुआ है ॥

परिनिविभ्यः सेवसितसयसिवुसहसुट्स्तुस्वञ्जाम् ॥८।३।७०॥

परिनिविभ्यः ५।३॥ सेव''' ञ्जाम् ६।३॥ *स०*—सेवश्च सितश्च सयश्च सिवुश्च सहश्च सुट् च स्तुश्च स्वञ्ज् च सेव''' स्वञ्जस्तेषाम्''' इतरेतर-

द्वन्द्वः ॥ अनु०—उपसर्गात्, स्थादिष्वभ्यासेन चाभ्यासस्य, प्राक् सितादड्व्यवायेऽपि, सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—परि, नि, वि इत्येतेभ्य उपसर्गेभ्य उत्तरेषां सेव, सित, सय, सिवु, सह, सुट्, स्तु, स्वञ्ज इत्येतेषां सकारस्य मूर्धन्य आदेशो भवति, प्राक्सितादड्व्यवायेऽपि स्थादिष्वभ्यासेन चाभ्यासस्य ॥ *उदा०*—सेव—परिषेवते, निषेवते, विषेवते। पर्यषेवत, न्यषेवत, व्यषेवत। परिषिषेविषते, निषिषेविषते, विषिषेविषते। सित—परिषितः, निषितः, विषितः। सय—परिषयः, निषयः, विषयः। सिवु—परिषीव्यति, निषीव्यति, विषीव्यति। पर्यषीव्यत्, न्यषीव्यत्, व्यषीव्यत्। पर्यसीव्यत्, न्यसीव्यत, व्यसीव्यत्। सह—परिषहते, निषहते, विषहते। पर्यषहत, न्यषहत, व्यषहत। पर्यसहत, न्यसहत, व्यसहत। सुट्—परिष्करोति। पर्यष्करोत्। पर्यस्करोत्। स्तु—परिष्टौति, निष्टौति, विष्टौति। पर्यष्टौत्, न्यष्टौत्, व्यष्टौत्। पर्यस्तौत्, न्यस्तौत्, व्यस्तौत्। स्वञ्ज—परिष्वजते, निष्वजते, विष्वजते। पर्यष्वजत, न्यष्वजत, व्यष्वजत। पर्यस्वजत, न्यस्वजत, व्यस्वजत ॥

भाषार्थः—[*परिनिविभ्यः*] परि, नि, तथा वि उपसर्ग से उत्तर [*सेव...स्वञ्जाम्*] सेव, सित, सय, सिवु, सह, (षह) सुट्, स्तु, तथा स्वञ्ज के सकार को मूर्धन्य आदेश होता है, सित शब्द से पहले २ अट् व्यवाय एवं अभ्यास व्यवाय में भी होता है ॥ तद्वत् उदाहरण सित से पूर्व २ के दिखा दिये हैं ॥ षेवृ धातु का 'सेव', तथा षिञ् बन्धने के निष्ठा का 'सित', एवं षिञ् का ही एरच् (३।३।५६) से अच् करके 'सय' निर्देश सूत्र में है, अतः तद्वत् क्तान्त एवं अच् प्रत्ययान्त शब्दों को षत्व होगा। परिषिषेविषते आदि पूर्ववत् णिजन्त के सन् के रूप हैं। सिवु (षिवु) से आगे के प्रयोगों में *सिवादीनां वाड्०* (८।३।७१) से अट् के व्यवाय में विकल्प से षत्व होता है, अतः अट् के व्यवाय के दो २ प्रयोग दिखाये हैं। *सम्परिभ्यां०* (६।१।१३२) से परि से उत्तर सुट् कहा है नि, वि से उत्तर नहीं, अतः परि का ही उदाहरण दिखाया है ॥ स्तु तथा स्वञ्ज को *उपसर्गात् सुनोति०* (८।३।६५) से ही षत्व प्राप्त था, अगले सूत्र से अड्व्यवाय में षत्व का विकल्प करने के लिये इनका ग्रहण है, अन्यथा ८।३।६५ से नित्य ही षत्व होता। परिष्वजते आदि में *दंशसञ्ज०* (६।४।२५) से अनुनासिक लोप होगा ॥

यहाँ से '*परिनिविभ्यः*' की अनुवृत्ति ८।३।७१ तक जायेगी ॥

सिवादीनां वाऽड्व्यवायेऽपि ॥८।३।७१॥

सिवादीनाम् ६।३॥ वा अ० ॥ अड्व्यवाये ७।१॥ अपि अ० ॥ *स०*—सिव् आदिर्येषां ते सिवादयस्तेषां ''बहुव्रीहिः। अटा व्यवायोऽड्व्यवायस्तस्मिन्'' तृतीयातत्पुरुषः ॥ *अनु०*—परिनिविभ्यः, उपसर्गात्, सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—परिनिविभ्य उपसर्गेभ्य उत्तरेषां सिवादीनामड्व्यवायेऽपि सकारस्य वा मूर्धन्यादेशो भवति ॥ पूर्वसूत्रोक्ताः सिवुसहसुट्स्तुस्वञ्जाम् इति सिवादयः ॥ पूर्वसूत्रे तथैवोदाहृतमत्रापि द्रष्टव्यम् ॥

भाषार्थः—परि, नि, वि उपसर्गों से उत्तर [*सिवादीनाम्*] सिवादियों के सकार को [*अड्व्यवाये*] अट् के व्यवधान होने पर [*अपि*] भी [*वा*] विकल्प से मूर्धन्य आदेश होता है ॥ सिवादि से पूर्व सूत्र में कहे हुये सिवु से लेकर स्वञ्ज तक का ग्रहण है ॥

यहाँ से '*वा*' की अनुवृत्ति ८।३।७६ तक जायेगी ॥

अनुविपर्यभिनिभ्यः स्यन्दतेरप्राणिषु ॥८।३।७२॥

अनुविपर्यभिनिभ्यः ५।३॥ स्यन्दतेः ६।१॥ अप्राणिषु ७।३॥ *स०*—अनुश्च विश्च परिश्च अभिश्च निश्च अनु''नयस्तेभ्यः'''इतरेतरद्वन्द्वः। न प्राणिनोऽप्राणिनस्तेषु''नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—वा, उपसर्गात्, सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—अनु, वि, परि, अभि, नि इत्येतेभ्य उपसर्गेभ्य अप्राणिषु स्यन्दतेः सकारस्य वा मूर्धन्यादेशो भवति ॥ *उदा०*—अनुष्यन्दते, विष्यन्दते, परिष्यन्दते, अभिष्यन्दते, निष्यन्दते। पक्षे—अनुस्यन्दते, विस्यन्दते, परिस्यन्दते, अभिस्यन्दते, निस्यन्दते ॥

भाषार्थः—[*अनु''भ्यः*] अनु, वि, परि, अभि, नि उपसर्गों से उत्तर [*स्यन्दतेः*] स्यन्दू धातु के सकार को मूर्धन्य आदेश होता है, यदि [*अप्राणिषु*] प्राणि का कथन न हो रहा हो तो ॥

वेः स्कन्देरनिष्ठायाम् ॥८।३।७३॥

वेः ५।१॥ स्कन्देः ६।१॥ अनिष्ठायाम् ७।१॥ *स०*—अनिष्ठा० इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—वा, उपसर्गात्, सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः,

संहितायाम् ॥ *अर्थः*—वेरुपसर्गादुत्तरस्य स्कन्देः सकारस्य वा मूर्धन्यादेशो भवत्यनिष्ठायाम् ॥ *उदा०*—विष्कन्ता, विष्कन्तुम्, विष्कन्तव्यम्। पक्षे—विस्कन्ता, विस्कन्तुम्, विस्कन्तव्यम् ॥

भाषार्थः—[वेः] वि उपसर्ग से उत्तर [स्कन्देः] स्कन्दिर् धातु के सकार को [*अनिष्ठायाम्*] निष्ठा परे न हो तो विकल्प से मूर्धन्य आदेश होता है ॥ वि स्कन्द् तृच् = चर्त्व होकर (८।४।५४) विष्कन्त् ता = *झरो झरि सवर्णे* (८।४।६४) लगकर विष्कन्ता बना। इसी प्रकार सबमें जानें ॥

यहाँ से 'स्कन्देः' की अनुवृत्ति ८।३।७४ तक जायेगी ॥

परेश्च ॥८।३।७४॥

परेः ५।१॥ च अ० ॥ अनु०—स्कन्देः, वा, उपसर्गात्, सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—परेरुपसर्गाच्चोत्तरस्य स्कन्देः सकारस्य वा मूर्धन्यादेशो भवति ॥ *उदा०*—परिष्कन्ता, परिष्कन्तुम्, परिष्कन्तव्यम्। पक्षे—परिस्कन्ता, परिस्कन्तुम्, परिस्कन्तव्यम्। परिष्कण्णः, परिस्कन्नः ॥

भाषार्थः—[*परेः*] परि उपसर्ग से उत्तर [च] भी स्कन्द् के सकार को विकल्प से मूर्धन्यादेश होता है ॥ क्त में स्कन्द् के अनुनासिक का *अनिदितां हल०* (६।४।२४) से लोप तथा निष्ठा तकार एवं पूर्व दकार को *रदाभ्यां निष्ठातो०* (८।२।४२) से नत्व एवं षत्व पक्ष में णत्व (८।४।२) होकर परिष्कण्णः परिस्कन्नः बन गया ॥

परिस्कन्दः प्राच्यभरतेषु ॥८।३।७५॥

परिस्कन्दः १।१॥ प्राच्यभरतेषु ७।३॥ *स०*—प्राच्याश्चासौ भरताश्च प्राच्यभरतास्तेषु ''कर्मधारयतत्पुरुषः ॥ *अर्थः*—परिस्कन्द इत्यत्र मूर्धन्याभावो निपात्यते प्राच्यभरतेषु प्रयोगविषयेषु ॥ पूर्वेण मूर्धन्ये प्राप्ते तदभावो निपात्यते ॥ परिस्कन्दः ॥

भाषार्थः—[*परिस्कन्दः*] परिस्कन्द शब्द में मूर्धन्याभाव निपातन है, [*प्राच्यभरतेषु*] प्राग्देशीयान्तर्गत भरतदेश के प्रयोग विषय में ॥ पूर्व सूत्र से षत्व प्राप्त था तदभाव निपातन कर दिया। परिस्कन्दः शब्द पचाद्यच् प्रत्ययान्त है ॥

स्फुरतिस्फुलत्योर्निर्निविभ्यः ॥८।३।७६॥

स्फुरतिस्फुलत्योः ६।२॥ निर्निविभ्यः ५।३॥ स०—स्फुरतिश्च स्फुलतिश्च स्फुरतिस्फुलती, तयोः...इतरेतरद्वन्द्वः । निस् च निश्च विश्च निर्निवयस्तेभ्यः...इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—वा, उपसर्गात्, सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ अर्थः—निस्, नि, वि इत्येतेभ्य उपसर्गेभ्य उत्तरस्य स्फुरतिस्फुलत्योः सकारस्य वा मूर्धन्यादेशो भवति ॥ उदा०—स्फुरति–निष्ष्फुरति, निष्फुरति । विष्फुरति । पक्षे–निस्स्फुरति, निस्फुरति, विस्फुरति । स्फुलति–निष्ष्फुलति, निष्फुलति । विष्फुलति । पक्षे–निस्स्फुलति, निस्फुलति, विस्फुलति ॥

भाषार्थः—[*निर्निविभ्यः*] निस्, नि, वि उपसर्ग से उत्तर [*स्फुरतिस्फुलत्योः*] स्फुरति तथा स्फुलति के सकार को विकल्प से मूर्धन्य आदेश होता है ॥ निस् स्फुरति = निस् ष्फुरति = ष्टुत्व होकर निषष्फुरति बन गया ॥

वेः स्कभ्नातेर्नित्यम् ॥८।३।७७॥

वेः ५।१॥ स्कभ्नातेः ६।१॥ नित्यम् १।१॥ अनु०—उपसर्गात्, सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ अर्थः—वेरुपसर्गादुत्तरस्य स्कभ्नातेः सकारस्य नित्यं मूर्धन्यादेशो भवति ॥ उदा०—विष्कभ्नाति । विष्कम्भिता, विष्कम्भितुम्, विष्कम्भितव्यम् ॥

भाषार्थः—[*वेः*] वि उपसर्ग से उत्तर [*स्कभ्नातेः*] स्कन्भु (सौत्र धातु) के सकार को [*नित्यम्*] नित्य ही मूर्धन्य आदेश होता है ॥ स्तन्भुस्तुन्भु० (३।१।८२) से विष्कभ्नाति में श्ना विकरण हुआ है ॥

इणः षीध्वंलुङ्लिटां धोऽङ्गात् ॥८।३।७८॥

इणः ५।१॥ षीध्वंलुङ्लिटाम् ६।३॥ धः ६।१॥ अङ्गात् ५।१॥ स०—षीध्वं च लुङ् च लिट् च षीध्वंलुङ्लिटस्तेषाम्...इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ अर्थः—इणन्तादङ्गादुत्तरेषां षीध्वम्, लुङ्, लिट् इत्येतेषां यो धकारस्तस्य मूर्धन्यादेशो भवति ॥ उदा०—षीध्वम्–च्योषीढ्वम्, प्लोषीढ्वम् । लुङ्–अच्योढ्वम्, अप्लोढ्वम् । लिट्–चकृढ्वे, ववृढ्वे ॥

भाषार्थः—[*इणः*] इणन्त (इण् प्रत्याहार अन्त वाले) [*अङ्गात्*] अङ्ग से उत्तर [*षीध्वंलुङ्लिटाम्*] षीध्वम्, लुङ्, तथा लिट् का जो [*धः*] धकार उसको मूर्धन्य आदेश होता है॥ आशीर्लिङ् में च्युङ् प्लुङ् धातु से च्यु सीयुट् ध्वम् = च्यो सीय् ध्वम् = षत्व (८।३।५९) तथा य् का लोप (६।१।६४) होकर च्योषीध्वम् रहा। अब यहाँ प्रकृत सूत्र से षीध्वम् के ध् को मूर्धन्य होकर च्योषीढ्वम् प्लोषीढ्वम् बन गया। लुङ् में *धि च* (८।२।२५) से सिच् के स् का लोप एवं ध् को मूर्धन्य होकर अच्योढ्वम् बन गया। *एकाच उपदेशे०* (७।२।१०) से सर्वत्र इट् निषेध जानें। लिट् में कृ को द्वित्वादि होकर च कृ ध्वम् = *टित आत्मने०* (३।४।७९) से एत्व तथा मूर्धन्य होकर चकृढ्वे ववृढ्वे बन गया। यहाँ *कृसृभृ०* (७।२।१३) से इट् निषेध हुआ है। मूर्धन्य कहने से यहाँ *स्थानेऽन्तरतमः* (१।१।४९) से मूर्धा स्थानी ध् को ढ् हो गया है॥

यहाँ से '*इणः षीध्वंलुङ्लिटाम् धः*' की अनुवृत्ति ८।३।७९ तक जायेगी॥

विभाषेटः ॥८।३।७९॥

विभाषा १।१॥ इटः ५।१॥ *अनु०*—इणः षीध्वंलुङ्लिटां धः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम्॥ *अर्थः*—इणः परस्मात् इट उत्तरेषां षीध्वंलुङ्लिटां यो धकारस्तस्य विकल्पेन मूर्धन्यादेशो भवति॥ *उदा०*—लविषीध्वम्, लविषीढ्वम्। पविषीध्वम्, पविषीढ्वम्। लुङ्—अलविध्वम्, अलविढ्वम्। लिट्—लुलुविध्वे, लुलुविढ्वे॥

भाषार्थः—इण् से उत्तर जो [*इटः*] इट् उससे उत्तर जो षीध्वम्, लुङ् तथा लिट् का धकार उसको [*विभाषा*] विकल्प से मूर्धन्य आदेश होता है॥ पूर्ववत् लिङ् में लू इट् सीयुट् ध्वम् = लू इ षी ध्वम् रहा। अब यहाँ लू का ऊ इण् है सो उससे उत्तर जो इट् उससे परे षीध्वम् के ध् को मूर्धन्य होकर लू इ षीढ्वम् = लो इ षीढ्वम् = लविषीढ्वम् बन गया। पक्ष में ध् ही रहा। अलविध्वम् अलविढ्वम् की सिद्धि सूत्र ८।२।२५ में देखें। लिट् में लू को द्वित्वादि कार्य एवं *अचि श्नुधातु०* (६।४।७७) से उवङ् होकर लुलुविढ्वे लुलुविध्वे बना है॥

समासेऽङ्गुलेः सङ्गः ॥८।३।८०॥

समासे ७।१॥ अङ्गुलेः ५।१॥ सङ्गः १।१॥ षष्ठ्याः स्थाने प्रथमाऽत्र व्यत्ययेन॥ *अनु०*—सः, नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, अपदान्तस्य

मूर्धन्यः, संहितायाम् ।। *अर्थः*—सङ्गशब्दस्य सकारस्याङ्गुलेरुत्तरस्य मूर्धन्यादेशो भवति समासे ।। *उदा०*—अङ्गुलेः सङ्गः = अङ्गुलिषङ्गः । अङ्गुलिषङ्गा यवागूः । अङ्गुलिषङ्गो गाः सादयति ।।

भाषार्थः—[*समासे*] समास में [*अङ्गुलेः*] अङ्गुलि शब्द से उत्तर [*सङ्गः*] सङ्ग शब्द के सकार को मूर्धन्य आदेश होता है ।। सङ्ग अर्थात् संश्लेष, अङ्गुलिषङ्गः = अङ्गुलि का संश्लेष ।। *सात् पदाद्योः* (८।३।१११) से प्रतिषेध प्राप्त था, तदर्थ यह सूत्र है ।।

यहाँ से '*समासे*' की अनुवृत्ति ८।३।८५ तक जायेगी ।।

भीरोः स्थानम् ।।८।३।८१।।

भीरोः ५।१।। स्थानम् १।१।। षष्ठ्यर्थे प्रथमा ।। *अनु०*—समासे, सः, नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ।। *अर्थः*—स्थानसकारस्य भीरोरुत्तरस्य मूर्धन्यादेशो भवति समासे ।। *उदा०*—भीरोः स्थानम् = भीरुष्ठानम् ।।

भाषार्थः—[*भीरोः*] भीरु शब्द से उत्तर [*स्थानम्*] स्थान शब्द के सकार को समास में मूर्धन्य आदेश होता है ।।

अग्नेः स्तुत्स्तोमसोमाः ।।८।३।८२।।

अग्नेः ५।१।। स्तुत्स्तोमसोमाः १।३।। *स०*—स्तुत्० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ।। *अनु०*—समासे, सः, नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ।। *अर्थः*—अग्नेरुत्तरस्य स्तुत् , स्तोम, सोम इत्येतेषां सकारस्य समासे मूर्धन्यादेशो भवति ।। *उदा०*—अग्निष्टुत् अग्निष्टोमः, अग्नीषोमौ ।।

भाषार्थः—[*अग्नेः*] अग्नि शब्द से उत्तर [*स्तुत्स्तोमसोमाः*] स्तुत् , स्तोम, तथा सोम के सकार को समास में मूर्धन्य आदेश होता है ।। परि० १।१।६१ के अग्निचित् के समान अग्निस्तुत् बन कर पश्चात् षत्व ष्टुत्व अग्निष्टुत् में हुआ है । अग्निष्टोमः में षष्ठी समास है । अग्नीषोमौ यहाँ द्वन्द्व समास है, तथा *ईदग्नेः सोम०* (६।३।२५) से अग्नि को ईत्व हुआ है ।। स्तोम सोम शब्द १।१४० उणादि से मन् प्रत्ययान्त हैं, *सात्पदाद्योः* से पदादि लक्षण प्रतिषेध सर्वत्र प्राप्त था विधान कर दिया ।।

ज्योतिरायुषः स्तोमः ॥८।३।८३॥

ज्योतिरायुषः ५।१॥ स्तोमः १।१॥ *स०*—ज्योतिश्च आयुश्च ज्योतिरायुस्तस्मात् ''समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—समासे, सः, नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—ज्योतिस् आयुस् इत्येताभ्यामुत्तरस्य स्तोमसकारस्य समासे मूर्धन्यादेशो भवति ॥ *उदा०*—ज्योतिषः स्तोमः = ज्योतिष्ष्टोमः, आयुष्ष्टोमः । ज्योतिःष्टोमः, आयुःष्टोमः ॥

भाषार्थः—[*ज्योतिरायुषः*] ज्योतिस् तथा आयुस् शब्द से उत्तर [*स्तोमः*] स्तोम शब्द के सकार को समास में मूर्धन्य आदेश होता है ॥ ज्योतिस् आयुस् के स् को विसर्जनीय होकर स्तोम परे रहते *वा शरि* (८।३।३६) से पक्ष में सत्व एवं स्तोम के स् को ष् करने पर ष्टुत्व होकर ज्योतिष्ष्टोमः, आयुष्ष्टोमः प्रयोग बन गये। पक्ष में जब *वा शरि* से विसर्जनीय हुआ तो ज्योतिःष्टोमः, आयुःष्टोमः प्रयोग बन गये॥ पूर्ववत् प्रतिषेध प्राप्त था कह दिया ॥

मातृपितृभ्यां स्वसा ॥८।३।८४॥

मातृपितृभ्याम् ५।२॥ स्वसा १।१॥ *अनु०*—समासे, सः, नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—मातृ पितृ इत्येताभ्यामुत्तरस्य स्वसृसकारस्य समासे मूर्धन्यादेशो भवति ॥ *उदा०*—मातृष्वसा, पितृष्वसा ॥

भाषार्थः—[*मातृपितृभ्याम्*] मातृ तथा पितृ शब्द से उत्तर [*स्वसा*] स्वसृ शब्द के सकार को समास में मूर्धन्य आदेश होता है ॥ उदाहरणों में षष्ठी समास है । *विभाषा स्वसृपत्योः* (६।३।२२) से यहाँ जब षष्ठी का लुक् हो गया है, उस पक्ष के ये उदाहरण हैं । अनादेश का सकार होने से उत्सर्ग सूत्र (८।३।५९) से षत्व प्राप्त नहीं था अप्राप्त विधान है, ऐसा अन्यत्र भी जहाँ किसी का अपवाद रूप सूत्र न हो, समझें ॥

यहाँ से '*स्वसा*' की अनुवृत्ति ८।३।८५ तक जायेगी ॥

मातुःपितुर्भ्यामन्यतरस्याम् ॥८।३।८५॥

मातुःपितुर्भ्याम् ५।२॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ *स०*—मातुश्च पितुश्च मातुःपितुरौ, ताभ्यां'''इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—स्वसा, समासे, सः,

नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम्।। *अर्थः*— मातुर् पितुर् इत्येताभ्यामुत्तरस्य स्वसृशब्दस्य सकारस्य समासे विकल्पेन मूर्धन्यादेशो भवति ।। *उदा०*—मातुःष्वसा, मातुःस्वसा । पितुःष्वसा, पितुःस्वसा ।।

भाषार्थः—[*मातुःपितुर्भ्याम्*] मातुर् तथा पितुर् शब्द से उत्तर स्वसृ के सकार को समास में [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प करके मूर्धन्य आदेश होता है ।। मातुर् पितुर् यह षष्ठ्यन्त का अनुकरण है, सो वैसा ही निर्देश सूत्र में कर दिया है । मातुर् पितुर् के रेफ को विसर्जनीय पूर्ववत् उदाहरणों में हुआ है । षष्ठी विभक्ति का अलुक् यहाँ *विभाषा स्वसृपत्योः* (६।३।२२) से होता है । *वा शरि* से पक्ष में जब विसर्जनीय को सत्व होगा तो स् को ष्टुत्व होकर मातुष्ष्वसा पितृष्ष्वसा प्रयोग भी बनेंगे, ऐसा जानें ।।

यहाँ से '*अन्यतरस्याम्*' की अनुवृत्ति ८।३।८६ तक जायेगी ।।

अभिनिसःस्तनः शब्दसंज्ञायाम् ।।८।३।८६।।

अभिनिसः ५।१।। स्तनः ६।१।। शब्दसंज्ञायाम् ७।१।। *स०*—अभिश्च निस् च अभिनिः, तस्मात्'''समाहारद्वन्द्वः । शब्दस्य संज्ञा शब्दसंज्ञा, तस्याम्'''षष्ठीतत्पुरुषः ।। *अनु०*—अन्यतरस्याम्, सः, नुम्विसर्जनीय-शर्व्यवायेऽपि, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ।। *अर्थः*—अभि निस् इत्येतस्मादुत्तरस्य स्तनधातोः सकारस्य शब्दसंज्ञायाम् गम्यमानायाम् विकल्पेन मूर्धन्यादेशो भवति ।। *उदा०*—अभिनिष्टानो वर्णः, अभिनिष्टानो विसर्जनीयः । पक्षे— अभिनिस्तानो वर्णः, अभिनिस्तानो विसर्जनीयः ।।

भाषार्थः—[*अभिनिसः*] अभि तथा निस् से उत्तर [*स्तनः*] स्तन धातु के सकार को [*शब्दसंज्ञायाम्*] शब्द की संज्ञा गम्यमान हो तो विकल्प से मूर्धन्य आदेश होता है ।। अभि निस् ये समुदित रूप से उदाहरणों में आयें तभी षत्व होता है । अभिनिष्टान विसर्जनीय रूप वर्ण विशेष की संज्ञा है । पूर्व उदाहरण में वर्ण सामान्य का निर्देश होने पर भी विसर्जनीय रूप वर्ण की ही संज्ञा जाननी चाहिए । आपस्तम्बगृह्यसूत्र के नाम प्रकरण में 'अभिनिष्ठान्तम्' पद विसर्जनीय के लिए प्रयुक्त है । क्या वह पाठाशुद्धि सम्भव है ?

उपसर्गप्रादुर्भ्यामस्तिर्यच्परः ॥८।३।८७॥

उपसर्गप्रादुर्भ्याम् ५।२॥ अस्तिः १।१॥ यच्परः १।१॥ स०—उपसर्गश्च प्रादुश्च उपसर्गप्रादुसौ, ताभ्यां'''इतरेतरद्वन्द्वः । यश्च अच् च यचौ, यचौ परौ यस्मात् स यच्परः, द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—सः, इण्कोः, नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—उपसर्गस्थान्निमित्तादुत्तरस्य प्रादुस्शब्दाच्चोत्तरस्य यकारपरस्य अच्परस्य चास्तेः सकारस्य मूर्धन्यादेशो भवति ॥ *उदा०*—अच्परस्यास्तेः—अभिषन्ति, निषन्ति, विषन्ति । प्रादुःषन्ति । यकारपरस्यास्तेः—अभिष्यात्, निष्यात्, विष्यात् । प्रादुःष्यात् ॥

भाषार्थः—[*उपसर्गप्रादुर्भ्याम्*] उपसर्ग में स्थित निमित्त से उत्तर (अर्थात् इण् कवर्ग) तथा प्रादुस् शब्द से उत्तर [*यच्परः*] यकारपरक एवं अच्परक [*अस्तिः*] अस् धातु के सकार को मूर्धन्य आदेश होता है ॥ अभिषन्ति आदि में अस् के सकार से परे अन्ति का 'अ' अच् परे है । अदादिगणस्थ होने से शप् का लुक् तथा *श्नसोरल्लोपः* (६।४।१११) से अस् के अ का लोप यहाँ होता है । अभिष्यात् आदि में यासुट् का यकार परे है, शेष पूर्ववत् है ॥ यासुट् के स् का लोप *लिङः सलोपो०* (७।२।७९) से होगा ॥

सुविनिर्दुर्भ्यः सुपिसूतिसमाः ॥८।३।८८॥

सुविनिर्दुर्भ्यः ५।३॥ सुपिसूतिसमाः १।३॥ *स०*—सुश्च विश्च निर् च दुर् च सुविनिर्दुरस्तेभ्यः'''इतरेतरद्वन्द्वः । सुपि० इत्यत्रापीतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—सः, नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—सु, वि, निर्, दुर् इत्येतेभ्य उत्तरस्य सुपि सूति सम इत्येतेषां सकारस्य मूर्धन्यादेशो भवति ॥ *उदा०*—सुषुप्तः, विषुप्तः, निःषुप्तः, दुःषुप्तः । सूति—सुषूतिः, विषूतिः, निःषूतिः, दुःषूतिः । सम—सुषमम्, विषमम्, निःषमम्, दुःषमम् ॥

भाषार्थः—[*सुविनिर्दुर्भ्यः*] सु, वि, निर् तथा दुर् से उत्तर [*सुपिसूतिसमाः*] सुपि, सूति, तथा सम के सकार को मूर्धन्यादेश होता है ॥ स्वप् को सम्प्रसारण (६।१।१५) करके सूत्र में 'सुपि' निर्देश है । षू धातु का क्तिन् में सूतिः रूप बना है, अतः क्तिन्नन्त को ही षत्व होगा ॥ सुपि

सूति को सात्पदाद्योः (८।३।१११) से पदादि लक्षण निषेध प्राप्त था, कह दिया ।। निर् दुर् उपसर्गों के र् को विसर्जनीय पूर्ववत् हुआ है ।।

निनदीभ्यां स्नातेः कौशले ।।८।३।८९।।

निनदीभ्याम् ५।२।। स्नातेः ६।१।। कौशले ७।१।। स०—निश्च नदी च निनद्यौ, ताभ्याम्...इतरेतरद्वन्द्वः ।। अनु०—सः, नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ।। अर्थः—नि नदी इत्येताभ्यामुत्तरस्य स्नातेः सकारस्य मूर्धन्यादेशो भवति, कौशले गम्यमाने ।। उदा०—निष्णातः कटकरणे, निष्णातो रज्जुवर्त्तने । नद्यां स्नातीति नदीष्णः ।।

भाषार्थः—[निनदीभ्याम्] नि तथा नदी इनसे उत्तर [स्नातेः] ष्णा शौचे धातु के सकार को [कौशले] कुशलता गम्यमान हो तो मूर्धन्य आदेश होता है ।। पदादि मानकर सात्पदाद्योः (८।३।१११) से निषेध प्राप्त था, विधान कर दिया ।। निष्णातः कटकरणे = चटाई बनाने में जो होशियार । ष्णा के ष् को पहिले धात्वादेः० (६।१।६२) से सत्व होकर स्ना रहा । तत्पश्चात् नि, नदी से उत्तर षत्व ष्टुत्व हो गया । नदीष्णः (नदी स्नान में कुशल) में सुपि स्थः (३।२।४) के योगविभाग से ष्णा से भी क प्रत्यय हो जाता है । पश्चात् आतो लोप० (६।४।६४) से 'ष्णा' का 'आ' लोप हो जायेगा ।।

सूत्रं प्रतिष्णातम् ।।८।३।९०।।

सूत्रम् १।१।। प्रतिष्णातम् १।१।। अनु०—सः, मूर्धन्यः, संहितायाम् ।। अर्थः—प्रतिष्णातमित्यत्र मूर्धन्यादेशो निपात्यते, सूत्रं चेत्तद् भवति ।। उदा०—प्रतिष्णातं सूत्रम् ।।

भाषार्थः—[प्रतिष्णातम्] प्रतिष्णातम् में षत्व निपातन है [सूत्रम्] सूत्र (धागा) को कहने में ।। प्रति स्ना क्त = प्रतिष्णातम् । पूर्ववत् सात्पदाद्योः से षत्व प्रतिषेध प्राप्त था, निपातन कर दिया ।। प्रतिष्णातम् अर्थात् शुद्ध सूत ।।

कपिष्ठलो गोत्रे ।।८।३।९१।।

कपिष्ठलः १।१।। गोत्रे ७।१।। अनु०—सः, मूर्धन्यः, संहितायाम् ।। अर्थः—कपिष्ठल इति मूर्धन्यादेशो निपात्यते, गोत्रविषये ।। उदा०—कपिष्ठलो नाम यस्य कापिष्ठलिः पुत्रः ।।

भाषार्थः—[*कपिष्ठलः*] कपिष्ठल में मूर्धन्य आदेश निपातन है [*गोत्रे*] गोत्र विषय को कहने में ॥

गोत्र से यहाँ लौकिक गोत्र का ग्रहण है, न कि पारिभाषिक (४।१।१६२)। लौकिक गोत्र में जिस विशिष्ट पुरुष से सन्तति का प्रारम्भ होता है, उसकी एवं उसके आगे की गोत्र संज्ञा होती है। इस प्रकार कपिष्ठल में आदि पुरुष मान कर षत्व हो गया है, अन्यथा *अपत्यं पौत्र०* (४।१।१६२) के कारण कापिष्ठलिः में ही षत्व होता, कपिष्ठल में नहीं ॥

प्रष्ठोऽग्रगामिनि ॥८।३।९२॥

प्रष्ठः १।१॥ अग्रगामिनि ७।१॥ *स०*—अग्रे गच्छतीति अग्रगामी, तस्मिन्'''तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—सः, मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—प्रष्ठ इति निपात्यते अग्रगामिन्यभिधेये ॥ *उदा०*—प्रतिष्ठत इति प्रष्ठोऽश्वः ॥

भाषार्थः—[*प्रष्ठः*] प्रष्ठ इस शब्द में [*अग्रगामिनि*] अग्रगामी अभिधेय हो तो षत्व निपातन है ॥ प्रष्ठोऽश्वः अर्थात् आगे चलने वाला अश्व ॥ प्रष्ठः में *सुपि स्थः* (३।२।४) से क प्रत्यय हुआ है ॥

वृक्षासनयोर्विष्टरः ॥८।३।९३॥

वृक्षासनयोः ७।२॥ विष्टरः १।१॥ *स०*—वृक्षश्च आसनञ्च वृक्षासने, तयोः'''इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—सः, मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—विष्टर इति निपात्यते, वृक्षे आसने च वाच्ये ॥ *उदा०*—विष्टरो वृक्षः, विष्टरमासनम् ॥

भाषार्थः—[*वृक्षासनयोः*] वृक्ष तथा आसन वाच्य हो तो [*विष्टरः*] विष्टर शब्द में षत्व निपातन है ॥ वि पूर्वक स्तॄञ् से ॠदोरप् (३।३।५७) से अप् प्रत्यय करके विस्तर = विष्टर बना है ॥

यहाँ से '*विष्टरः*' की अनुवृत्ति ८।३।९४ तक जायेगी ॥

छन्दोनाम्नि च ॥८।३।९४॥

छन्दोनाम्नि ७।१॥ च अ० ॥ *स०*—छन्दसः नाम छन्दोनाम, तस्मिन् '''षष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—विष्टरः, सः, मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—छन्दोनाम्नि सति विष्टार इत्यत्र मूर्धन्यादेशो निपात्यते ॥ *उदा०*—विष्टारपङ्क्तिः छन्दः, विष्टारबृहती छन्दः ॥

भाषार्थः—[*छन्दोनाम्नि*] छन्द का नाम कहना हो तो [च] भी विष्टार शब्द में षत्व निपातन किया है ॥ यहाँ यद्यपि 'विष्टरः' की अनुवृत्ति आ रही थी किन्तु विष्टार में *छन्दोनाम्नि* च (३।३।३४) से घञ् होने से वृद्धि (७।२।११५) होकर विष्टार ही बनेगा, अतः विष्टार निपातन माना है ॥ छन्द से यहाँ विष्टारपङ्क्ति आदि छन्द (छन्दों के नाम) गृहीत हैं न कि वेद । सिद्धि के लिये ३।३।३४ सूत्र ही देखें ॥

गवियुधिभ्यां स्थिरः ॥८।३।९५॥

गवियुधिभ्याम् ५।२॥ स्थिरः १।१॥ स०—गवि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—सः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—गवि युधि इत्येताभ्यामुत्तरस्य स्थिरसकारस्य मूर्धन्यादेशो भवति ॥ *उदा०*—गवि तिष्ठतीति गविष्ठिरः, युधिष्ठिरः ॥

भाषार्थः—[*गवियुधिभ्याम्*] गवि तथा युधि से उत्तर [*स्थिरः*] स्थिर शब्द के सकार को मूर्धन्य आदेश होता है ॥ गवि युधि सप्तम्यन्त के अनुकरण रूप शब्द हैं । युधिष्ठिरः में युधि के सप्तमी का अलुक् *हलदन्तात्०* (६।३।७) से हुआ है, तथा गो शब्द के अहलन्त होने से विभक्ति लुक् अप्राप्त था इसी सूत्र के निपातन से विभक्ति का अलुक् हुआ है ॥ पदादि मानकर *सात्पदाद्योः* (८।३।१११) से षत्व प्रतिषेध प्राप्त था तदर्थ यह वचन है ॥

विकुशमिपरिभ्यः स्थलम् ॥८।३।९६॥

विकुशमिपरिभ्यः ५।३॥ स्थलम् १।१॥ *स०*—विश्च कुश्च शमी च परिश्च विकु''रयः, तेभ्यः'' इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—सः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—वि, कु, शमि, परि इत्येतेभ्य उत्तरस्य स्थलसकारस्य मूर्धन्यादेशो भवति ॥ *उदा०*—विष्ठलम्, कुष्ठलम्, शमीनां स्थलम् = शमिष्ठलम्, परिष्ठलम् ॥

भाषार्थः—[*विकुशमिपरिभ्यः*] वि, कु, शमि तथा परि से उत्तर [*स्थलम्*] स्थल शब्द के सकार को मूर्धन्य आदेश होता है ॥ वि, कु तथा परि के साथ स्थल का *कुगतिप्रादयः* (२।२।१८) से समास हुआ है, तथा शमिष्ठलम् में षष्ठीसमास हुआ है । शमिष्ठलम् में शमी को ह्रस्व *ङ्यापोः संज्ञा०* (६।३।६१) से होता है ॥

यहाँ सूत्र में 'शमी' को ह्रस्व यह दर्शाने के लिये पढ़ा है, कि जब से ह्रस्वत्व हो तभी षत्व हो। बहुल कहने से जब दीर्घ भी रहे तब त्व न हो॥

अम्बाम्बगोभूमिसव्यापद्वित्रिकुशेकुशङ्क्वङ्गुमञ्जिपुञ्जि परमेबर्हिर्दिव्यग्निभ्यः स्थः ॥८।३।९७॥

अम्बा' 'ग्निभ्यः ५।३॥ स्थः १।१॥ *स०*—अम्बा० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ *नु०*—सः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम्॥ *अर्थः*—अम्ब, आम्ब, ो, भूमि, सव्य, अप, द्वि, त्रि, कु, शेकु, शङ्कु, अङ्गु, मञ्जि, पुञ्जि, परमे, र्हिस्, दिवि, अग्नि इत्येतेभ्य उत्तरस्य स्थशब्दस्य सकारस्य मूर्धन्यादेशो वति॥ *उदा०*—अम्बष्ठः, आम्बष्ठः, गोष्ठः, भूमिष्ठः, सव्येष्ठः, अपष्ठः, द्विष्ठः, त्रिष्ठः, कुष्ठः, शेकुष्ठः, शङ्कुष्ठः, अङ्गुष्ठः मञ्जिष्ठः, पुञ्जिष्ठः, परमेष्ठः, र्हिष्ठः, दिविष्ठः, अग्निष्ठः॥

भाषार्थः—[*अम्बा* ' *ग्निभ्यः*] अम्ब, आम्ब, गो, भूमि, सव्य, अप, द्वि, त्रि, कु, शेकु, शङ्कु, अङ्गु, मञ्जि, पुञ्जि, परमे, बर्हिस्, दिवि, ग्नि इन शब्दों से उत्तर [*स्थः*] स्था के सकार को मूर्धन्य आदेश होता ै॥ स्था से क प्रत्यय तथा आकार लोप करके 'स्थः' सूत्र में निर्देश है, ो उदाहरणों में कप्रत्ययान्त का ही ग्रहण होगा। अम्बष्ठः यहाँ अम्बा को *्यापोः संज्ञा०* (६।३।६१) से ह्रस्व होगा। गोष्ठः में *घञर्थे कविधानम्* वा० ३।३।५८) से क प्रत्यय तथा अन्यत्र *सुपि स्थः* (३।२।४) से क हुआ ै। सव्येष्ठः में *हलदन्तात्०* (६।३।७) से विभक्ति का अलुक् हुआ है। त्व कर लेने पर ष्टुत्व पूर्ववत् हो ही जायेगा॥

सुषामादिषु च ॥८।३।९८॥

सुषामादिषु ७।३॥ च अ०॥ *स०*—सुषामा आदिर्येषां ते सुषामा-यस्तेषु' 'बहुव्रीहिः॥ *अनु०*—सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, ुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, संहितायाम्॥ *अर्थः*—सुषामादिषु शब्देषु कारस्य मूर्धन्यादेशो भवति॥ *उदा०*—शोभनं साम यस्यासौ सुषामा ाह्मणः, निष्षामा, दुष्षामा॥

भाषार्थः—[*सुषामादिषु*] सुषामादि शब्दों के सकार को [*च*] भी ूर्धन्य आदेश होता है॥ निस् दुस् के सकार को विसर्जनीय होकर

वा शरि (८।३।३६) से पक्ष में सत्व तथा ष्टुत्व होकर निष्षामा दुष्षामा बना है ॥

एति संज्ञायामगात् ॥८।३।९९॥

एति ७।१॥ संज्ञायाम् ७।१॥ अगात् ५।१॥ *स०*—न गः अगस्तस्मात् ''नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—सः, इण्कोः, नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—अगकाराद् इण्कोरुत्तरस्य सकारस्य मूर्धन्यादेशो भवति, एकारे परतः संज्ञायां विषये ॥ *उदा०*—हरयः सेना अस्य = हरिषेणः, वारिषेणः, जानुषेणी ॥

भाषार्थः—[*अगात्*] गकारभिन्न इण् तथा कवर्ग से उत्तर सकार को [*एति*] एकार परे रहते [*संज्ञायाम्*] संज्ञा विषय में मूर्धन्य आदेश होता है ॥ उदाहरणों में 'सेना' को *गोस्त्रियो०* (१।२।४८) से ह्रस्वत्व हुआ है ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ८।३।१०० तक जायेगी ॥

नक्षत्राद् वा ॥८।३।१००॥

नक्षत्रात् ५।१॥ वा अ० ॥ *अनु०*—एति संज्ञायामगात्, सः, इण्कोः, नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—अगकारात् परस्य नक्षत्रवाचिनः शब्दादुत्तरस्य सकारस्य एति परतो संज्ञायां विषये विकल्पेन मूर्धन्यादेशो भवति ॥ *उदा०*—रोहिणीषेणः, रोहिणीसेनः । भरिणीषेणः, भरिणीसेनः ॥

भाषार्थः—अगकार से परे [*नक्षत्राद्*] नक्षत्र वाची शब्दों से उत्तर सकार को एकार परे रहते संज्ञा विषय में [*वा*] विकल्प से मूर्धन्य आदेश होता है ॥ रोहिणी भरिणी नक्षत्रवाची शब्द हैं । *अट्कुप्वाङ्०* (८।४।२) से णत्व हो ही जायेगा ॥ पूर्व सूत्र से नित्य प्राप्त था, विकल्पार्थ यह वचन है ॥

ह्रस्वात्तादौ तद्धिते ॥८।३।१०१॥

ह्रस्वात् ५।१॥ तादौ ७।१॥ तद्धिते ७।१॥ *स०*—तकार आदिर्यस्य स तादिस्तस्मिन् ''बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—सः, इण्कोः, नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—ह्रस्वादिण उत्तरस्य सकारस्य

मूर्धन्यादेशो भवति तकारादौ तद्धिते परतः ॥ उदा०—तरप्–सर्पिष्टरम्, यजुष्टरम्। तमप्–सर्पिष्टमम्, यजुष्टमम्। तय–चतुष्टये ब्राह्मणानां निकेताः। त्व-सर्पिष्ट्वम्, यजुष्ट्वम्। तल्–सर्पिष्टा, यजुष्टा। तसि–सर्पिष्टः, यजुष्टः। त्यप–आविष्ट्यो वर्द्धते ॥

भाषार्थः- [*ह्रस्वात्*] ह्रस्व इण् से उत्तर सकार को [*तादौ*] तकारादि [*तद्धिते*] तद्धित परे रहते मूर्धन्य आदेश होता है ॥ अपदान्तस्य का अधिकार होने से पदान्त स् को षत्व प्राप्त नहीं था विधान कर दिया ॥ सर्पिस् यजुस् के स् को विसर्जनीय होकर पुनः तरप् (५।३।५७) तमप् (५।३।५५) आदि परे रहते विसर्जनीय को सत्व (८।३।३४) होकर पश्चात् षत्व ष्टुत्व हो गया है। चतुष्टये (७।१) में भी इसी प्रकार चतुर् से *सङ्ख्याया अवयवे०* (५।२।४२) से तयप् प्रत्यय हुआ है। *तस्य भावस्त्वतलौ* (५।१।११८) से त्व तल्, *अपादाने चाहीय०* (५।४।४५) से सर्पिष्टः, यजुष्टः (५।१) में तसि, तथा आविस् शब्द से *अव्ययात्०* (४।२।१०३) में स्थित *आविसश्छन्दसि* वार्त्तिक से त्यप् प्रत्यय हुआ है ॥

यहाँ से '*तादौ*' की अनुवृत्ति ८।३।१०४ तक जायेगी ॥

निसस्तपतावनासेवने ॥८।३।१०२॥

निसः ६।१॥ तपतौ ७।१॥ अनासेवने ७।१॥ *स०*—न आसेवनम् अनासेवनं तस्मिन्'''नञ्तत्पुरुषः॥ *अनु०*—सः, मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—निसः सकारस्य तपतौ परतो मूर्धन्यादेशो भवत्यनासेवनेऽर्थे ॥ आसेवनं पुनः पुनः करणम्, अनासेवनं तद्विपरीतम् ॥ *उदा०*—निष्टपति सुवर्णम् ॥

भाषार्थः—[*निसः*] निस् के सकार को [*तपतौ*] तपति परे रहते [*अनासेवने*] अनासेवन अर्थ में मूर्धन्य आदेश होता है ॥ यह सूत्र भी पदान्तार्थ पूर्ववत् है ॥ आसेवन पुनः २ करने को कहते हैं, अनासेवन उससे विपरीत, सो 'निष्टपति सुवर्णम्' का अर्थ है एक बार सोने को तपाता है ॥

युष्मत्तत्तक्षुःष्वन्तः पादम् ॥८।३।१०३॥

युष्मत्तत्तक्षुःषु ७।३॥ अन्तःपादम् १।१॥ *स०*—युष्मत् च तत् च

ततक्षुश्च युष्मत्तत्ततक्षुसस्तेषु ''इतरेतरद्वन्द्वः। अन्तः = मध्ये पादस्येति अन्तःपादम्, *अव्ययं विभक्ति०* (२।१।६) इत्यनेन विभक्त्यर्थेऽव्ययीभाव समासः॥ अनु०—तादौ, सः, इण्कोः, नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, मूर्धन्यः, संहितायाम्॥ *अर्थः*—इण्कोरुत्तरस्य सकारस्य तादौ युष्मत्, तत्, ततक्षुस् इत्येतेषु परतो मूर्धन्यादेशो भवति स चेत् सकारोऽन्तःपादं भवति॥ उदा०—युष्मद्—अग्निष्ट्वं नामासीत्। अग्निष्ट्वा वर्द्धयामसि। अग्निष्टे विश्वा मानाय। अप्स्वग्ने सधिष्टव (ऋ० ८।४३।९)। तत्—अग्निष्टद्विश्वमापृणाति (ऋ० १०।२।४)। ततक्षुस्—द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः (ऋ० १०।३१।४)॥

भाषार्थः—इण् तथा कवर्ण से उत्तर सकार को तकारादि [*युष्मत्तत्ततक्षुःषु*] युष्मद्, तत्, तथा ततक्षुस् परे रहते मूर्धन्यादेश होता है, यदि वह सकार [*अन्तःपादम्*] पाद के अन्तर् = मध्य में वर्त्तमान हो तो॥ उदाहरणों में सर्वत्र जिसको षत्व हुआ है वह ऋचा के मध्य में है। तादौ की अनुवृत्ति होने से युष्मद् को हुये जो तकारादि आदेश वही यहाँ लिये जायेंगे सो *त्वाहौ सौ* (७।२।९४) से हुआ 'त्व', *त्वामौ द्वितीयायाः* (८।१।२३) से द्वितीयान्त को हुआ 'त्वा' *तवममौ ङसि* (७।२।९६) से हुआ 'तव' तथा *तेमयावेक०* (८।१।२२) से हुये 'ते' आदेश के परे रहते सकार को मूर्धन्य हुआ है। तद्वत् क्रम से उदाहरण दिये हैं। तत् शब्द निपात है, तथा 'ततक्षुः' तक्ष धातु के उस् में बना रूप है। षत्व कर लेने पर ष्टुत्व हो ही जायेगा॥ पदान्तार्थ ही यह सूत्र भी है॥

यहाँ से '*युष्मत्तत्ततक्षुःषु*' की अनुवृत्ति ८।३।१०४ तक जायेगी॥

यजुष्येकेषाम् ॥८।३।१०४॥

यजुषि ७।१॥ एकेषाम् ६।३॥ *अनु०*—युष्मत्तत्ततक्षुःषु, तादौ, सः, इण्कोः, नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, मूर्धन्यः, संहितायाम्॥ *अर्थः*—यजुषि विषये तादौ युष्मत्तत्ततक्षुःषु परत एकेषामाचार्याणां मतेन इण्कोरुत्तरस्य सकारस्य मूर्धन्यादेशो भवति॥ *उदा०*—अर्चिभिष्ट्वम्, अर्चिभिस्त्वम्। अग्निष्टेऽग्रम्, अग्निस्तेऽग्रम्। अग्निष्टत्, अग्निस्तत्। अर्चिभिष्टतक्षुः, अर्चिभिस्ततक्षुः॥

भाषार्थः—[*यजुषि*] यजुर्वेद में तकारादि युष्मद् तत् तथा ततक्षुस

गरे रहते इण् तथा कवर्ग से उत्तर सकार को [एकेषाम्] एक = किन्हीं आचार्यों के मत में मूर्धन्य आदेश होता है ॥ एकेषाम् ग्रहण विकल्पार्थ है, अर्थात् एक के मत में होता है, एक के मत में नहीं सो पक्ष में षत्व नहीं होता ॥ पूर्ववत् पदान्तार्थ यह सूत्र भी है ॥ सु को विसर्जनीय तत्पश्चात् पूर्ववत् सत्व (८।३।३४) होकर षत्व हुआ है ॥

यहाँ से '*एकेषाम्*' की अनुवृत्ति ८।३।१०६ तक जायेगी ॥

स्तुतस्तोमयोश्छन्दसि ॥८।३।१०५॥

स्तुतस्तोमयोः ६।२॥ छन्दसि ७।१॥ *स०*— स्तुत० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—एकेषाम्, सः, इण्कोः, नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—इण्कवर्गाभ्यामुत्तरस्य स्तुत, स्तोम इत्येतयोः सकारस्य छन्दसि विषये एकेषामाचार्याणां मतेन मूर्धन्यादेशो भवति ॥ *उदा०*—त्रिभिष्टुतस्य, त्रिभिस्तुतस्य । गोष्टोमं षोडशिनम्, गोस्तोमं षोडशिनम् ॥

भाषार्थः—इण् तथा कवर्ग से उत्तर [*स्तुतस्तोमयोः*] स्तुत तथा स्तोम के सकार को [*छन्दसि*] वेद विषय में कई आचार्यों के मत में मूर्धन्य आदेश होता है ॥ पूर्ववत् यहाँ भी एकेषाम् ग्रहण से विकल्प होता है ॥ पदादि[1] लक्षण *सात्पदाद्योः* (८।३।१११) से प्रतिषेध प्राप्त था, तदर्थ यह विधान है ॥

यहाँ से '*छन्दसि*' की अनुवृत्ति ८।३।१०९ तक जायेगी ॥

पूर्वपदात् ॥८।३।१०६॥

पूर्वपदात् ५।१॥ *स०*—पूर्वञ्चादः पदञ्च पूर्वपदम् तस्मात् ''कर्मधार-तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—छन्दसि, एकेषाम्, सः, इण्कोः, नुम्विसर्जनीय-शर्व्यवायेऽपि, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—पूर्वपदस्था-न्निमित्तादुत्तरस्य सकारस्य मूर्धन्यादेशो भवति छन्दसि विषये एकेषामा-चार्याणां मतेन ॥ *उदा०*—द्विषन्धिः, त्रिषन्धिः, मधुष्ठानम्, द्विषाहस्रं चिन्वीत । पक्षे—द्विसन्धिः, त्रिसन्धिः, मधुस्थानम्, द्विसाहस्रं चिन्वीत ॥

---

१. स्तोम शब्द में *अर्त्तिस्तु०* (*उणा०* १।१४०) से मन् प्रत्यय ष्टुञ् धातु से आ है, अतः पदादि लक्षण निषेध प्राप्ति थी । स्तुत क्तान्त है ही ।

भाषार्थः—[*पूर्वपदात्*] पूर्वपद में स्थित निमित्त (इण् तथा कव से उत्तर सकार को वेद विषय में कई आचार्यों के मत में मूर्धन्य आ होता है ॥ द्विषन्धिः, त्रिषन्धिः में षष्ठीतत्पुरुष अथवा बहुव्रीहि सम है। मधुष्ठानम् में षष्ठी समास, तथा द्विषाहस्रम् में *तद्धितार्थ०* (२।१।५ से समास हुआ है, अतः *तत्र भवः* (४।३।५३) से अण् एवं *सङ्ख्याया* (७।३।१५) से उत्तरपद को वृद्धि हुई है ॥ पूर्ववत् यहाँ भी विक होता है ॥

यहाँ से 'पूर्वपदात्' की अनुवृत्ति ८।३।१०६ तक जायेगी ॥

सुञः ॥८।३।१०७॥

सुञः ६।१॥ *अनु०*—पूर्वपदात्, छन्दसि, सः, इण्कोः, नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—पूर्वपद स्थान्निमित्तादुत्तरस्य सुञः सकारस्य छन्दसि विषये मूर्धन्यादेशो भवति। *उदा०*—अभीषुणः सखीनाम् (ऋ० ४।३१।३)। ऊर्ध्व ऊषुण (ऋ० १।३६।१३) ॥

भाषार्थः—पूर्वपद में स्थित निमित्त से उत्तर [*सुञः*] सुञ् निपात के सकार को वेद विषय में मूर्धन्य आदेश होता है ॥ *इकः सुञि* (६।३।१३२) से सुञ् से पूर्व को दीर्घ तथा *नश्च धातुस्थो०* (८।४।२६) से नस् के न को ण हुआ है ॥

सनोतेरनः ॥८।३।१०८॥

सनोतेः ६।१॥ अनः ६।१॥ *स०*—अविद्यमानो नकारो यस्य स अन्, तस्मात् बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—पूर्वपदात्, छन्दसि, सः, इण्कोः, नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—अनकारान्तस्य सनोतेः सकारस्य मूर्धन्यादेशो भवति छन्दसि विषये ॥ *उदा०*—गोषाः, नृषाः ॥

भाषार्थः—[*अनः*] अनकारान्त (नकार भिन्न) [*सनोतेः*] सन् धातु के सकार को वेद विषय में मूर्धन्य आदेश होता है ॥ सिद्धि सूत्र ३।२।६७ में देखें। सन् धातु के न् को आत्व हो जाने से अनकारान्त सन् उदाहरणों में है ॥ *पूर्वपदात्* से ही षत्व सिद्ध था पुनः यह सूत्र नियम करता है कि 'अनकारान्त सन् को ही षत्व हो' ॥

सहेः पृतनर्ताभ्यां च ॥८।३।१०९॥

सहेः ६।१॥ पृतनर्ताभ्याम् ५।२॥ च अ० ॥ *स०*—पृतना च ऋतञ्च पृतनर्ते, ताभ्यां···इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—पूर्वपदात्, छन्दसि, सः अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—पृतना ऋत इत्येताभ्यामुत्तरस्य सहेः सकारस्य छन्दसि विषये मूर्धन्यादेशो भवति ॥ *उदा०*—पृतनाषाहम्, ऋताषाहम् ॥

भाषार्थः—[*पृतनर्ताभ्याम्*] पृतना तथा ऋत शब्द से उत्तर [च] भी [*सहेः*] सह धातु के सकार को वेद विषय में मूर्धन्य आदेश होता है ॥ उदाहरणों में सह् से *छन्दसि सहः* (३।२।६३) से ण्वि प्रत्यय तथा ऋत को *अन्येषामपि०* (६।३।१३५) से दीर्घ हुआ है । द्वितीयान्त के ये रूप हैं । इण् से उत्तर न होने से *पूर्वपदात्* से प्राप्त नहीं था, विधान कर दिया ॥

न रपरसृपिसृजिस्पृशिस्पृहिसवनादीनाम् ॥८।३।११०॥

न अ० ॥ रपर···दीनाम् ६।३॥ *स०*—रः परो यस्मात् स रपरः, बहुव्रीहिः । सवनमादिर्येषां ते सवनादयः, बहुव्रीहिः । रपरश्च सृपिश्च सृजिश्च स्पृशिश्च स्पृहिश्च सवनादयश्च रपर···दयस्तेषां···इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—सः, इण्कोः, नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—रेफपरस्य सकारस्य, सृपि सृजि, स्पृशि, स्पृहि इत्येतेषां सवनादीनाञ्च सकारस्य मूर्धन्यो न भवति ॥ *पूर्वपदात्* (८।३।१०६) इति प्राप्ते प्रतिषिध्यते ॥ *उदा०*—रपरः-विस्रंसिकायाः काण्डं जुहोति । विस्रब्धः कथयति । सृपि-पुरा क्रूरस्य विसृपः । सृजि-वाचे विसर्जनात् । स्पृशि-दिवस्पृशम् । स्पृहि-निस्पृहं कथयति । सवनादीनाम्-सवने सवने, सूते २, सामे २ ॥

भाषार्थः—[*रपर···दीनाम्*] रेफ परे है जिससे उसके सकार को तथा सृप्लृ, सृज, स्पृश, स्पृह एवं सवनादि गणपठित शब्दों के सकार को मूर्धन्य आदेश इण् कवर्ग से उत्तर [न] नहीं होता ॥ *पूर्वपदात्* से प्राप्ति का यह प्रतिषेध है ॥ विस्रंसिकायाः (६।१) यहाँ वि पूर्वक स्रंसु से *संज्ञायाम्* (३।३।१०९) से ण्वुल् हुआ है । विस्रब्धः स्रम्भु धातु के क्त का रूप है । *अनिदितां०* (६।४।२४) से नलोप, *झषस्त०* (८।२।४०)

से धत्व एवं जश्त्व (८।४।५२) ब् होकर विस्रब्धः बना है। *यस्य विभाषा* (७।२।१५) में इट् प्रतिषेध भी यहाँ जानें। यहाँ स् से परे रेफ है ॥ 'विसृपः' में *सृपितृदोः०* (३।४।१७) से कसुन् तथा 'विसर्जनात्' में ल्युट् है। दिविस्पृशम् में *स्पृशोऽनु०* (३।२।५८) से क्विन् हुआ है, द्वितीयान्त का यह रूप है। *तत्पुरुषे कृति०* (६।३।१२) से यहाँ विभक्ति का अलुक् भी हुआ है। निस्पृहम् में *एरच्* (३।३।५६) से अच् प्रत्यय तथा णि का लोप (६।४।५१) हुआ है। षुञ् का ल्युट् सप्तम्यन्त में सवने रूप है, वीप्सा में द्वित्व सर्वत्र हुआ है। षूङ् का क्त में सूत तथा उणादि १।१४० से सोम बना है ॥

यहाँ से 'न' की अनुवृत्ति ८।३।११९ तक जायेगी ॥

सात्पदाद्योः ॥८।३।१११॥

सात्पदाद्योः ६।२॥ *स०*—पदस्य आदिः पदादिः, षष्ठीतत्पुरुषः। सात् च पदादिश्च सात्पदाद्यौ तयोः'''इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—न, सः, इण्कोः, नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—सात् इत्येतस्य पदादेश्च सकारस्य मूर्धन्यादेशो न भवति ॥ *आदेशप्रत्यययोः* (८।३।५९) इत्यनेन प्राप्ते प्रतिषिध्यते ॥ *उदा०*—सात्—अग्निसात्, दधिसात्, मधुसात्। पदादेः—दधि सिञ्चति, मधु सिञ्चति ॥

भाषार्थः—इण् तथा कवर्ग से उत्तर [*सात्पदाद्योः*] सात् तथा पद के आदि के सकार को मूर्धन्य आदेश नहीं होता ॥ *विभाषा साति कार्त्स्न्ये* (५।४।५२) से साति प्रत्यय होता है, अतः प्रत्यय का सकार होने से षत्व प्राप्त था, निषेध कर दिया, एवं पदादि से आदेश लक्षण (८।३।५९) षत्व की जो प्राप्ति थी उसका निषेध होता है। षिच् धातु के ष् को स् हुआ है, अतः सिञ्चति का स् आदेश का स् है। *शे मुचादीनाम्* (७।१।५९) से नुम् होकर सि नुम् च् अ ति = श्चुत्व होकर सिञ्चति बन गया ॥

सिचो यङि ॥८।३।११२॥

सिचः ६।१॥ यङि ७।१॥ *अनु०*—न, सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—इण्कोरुत्तरस्य सिचः सकारस्य यङि परतो मूर्धन्यादेशो न भवति ॥ *उदा०*—सेसिच्यते, अभिसेसिच्यते ॥

भाषार्थः—इण् तथा कवर्ग से उत्तर [*सिचः*] सिच् के सकार को [*यङि*] यङ् परे रहते मूर्धन्य आदेश नहीं होता ॥ सेसिच्यते में *आदेशप्रत्यययोः* (८।३।५९) से सि के स् को षत्व प्राप्त था, तथा *उपसर्गात् सुनोति०* (८।३।६५) से अभिसेसिच्यते में प्राप्त था, निषेध कर दिया ॥

सेधतेर्गतौ ॥८।३।११३॥

सेधतेः ६।१॥ गतौ ७।१॥ *अनु०*—न, सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—गतावर्थे वर्त्तमानस्य सेधतेः सकारस्य मूर्धन्यादेशो न भवति ॥ *उदा०*—अभिसेधयति गाः, परिसेधयति गाः ॥

भाषार्थः—[*गतौ*] गति अर्थ में वर्त्तमान [*सेधतेः*] षिध गत्याम् धातु के सकार को मूर्धन्य आदेश नहीं होता ॥ षिधू शास्त्रे माङ्गल्ये च तथा षिध गत्याम् इन दोनों धातुओं का *उपसर्गात् सुनोति०* (८।३।६५) के सिध निर्देश से यहाँ ग्रहण हो सकता है, अतः उस सूत्र से उभयत्र षत्व प्राप्ति थी, गति अर्थ वाले षिध का निषेध कर देने से यहाँ षिध गत्याम् वाले सिध् को षत्व नहीं हुआ ॥

प्रतिस्तब्धनिस्तब्धौ च ॥८।३।११४॥

प्रतिस्तब्धनिस्तब्धौ १।२॥ च अ० ॥ *अनु०*—न, सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—प्रतिस्तब्ध निस्तब्ध इत्यत्र मूर्धन्याभावो निपात्यते ॥ स्तन्भेरिति प्राप्ते प्रतिषिध्यते ॥ *उदा०*—प्रतिस्तब्धः, निस्तब्धः ॥

भाषार्थः—[*प्रतिस्तब्धनिस्तब्धौ*] प्रतिस्तब्ध निस्तब्ध शब्दों में [च] भी मूर्धन्याभाव निपातन है ॥ *स्तन्भेः* (८।३।६७) से षत्व प्राप्ति थी, निषेध निपातन कर दिया ॥ स्तन्भु के न का लोप (६।४।२४) तथा निष्ठा के त को धत्व एवं जश्त्व (८।४।५२) होकर प्रतिस्तब्धः निस्तब्धः बना है ॥

सोढः ॥८।३।११५॥

सोढः ६।१॥ *अनु०*—न, सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—सोढ् इत्यस्य सकारस्य मूर्धन्यादेशो न भवति ॥ सोढ्भूतः सहधातुरत्र गृह्यते सोढ् इत्यनेन ॥ *उदा०*—परिसोढः, परिसोढुम्, परिसोढव्यम् ॥

भाषार्थः—[*सोढः*] सोढ् के सकार को मूर्धन्यादेश नहीं होता ॥ स धातु का ढत्व धत्व ष्टुत्वादि करके जो सोढ् रूप बनता है, उसका यहाँ सूत्र में निर्देश कर दिया है ॥ *परिनिविभ्यः सेवसित०* (८।३।७० से यहाँ षत्व प्राप्ति थी, प्रतिषेध कर दिया ॥ *सहिवहोरोद०* (६।३।११० से सह् के अवर्ण को ओत् होकर परिसोढः आदि प्रयोग बनेंगे। *हो ढः* (८।२।३१) आदि से ढत्वादि कार्य बहुत बार दिखाया ज चुका है ॥

स्तम्भुसिवुसहां चङि ॥८।३।११६॥

स्तम्भुसिवुसहाम् ६।३॥ चङि ७।१॥ *स०*—स्तम्भुश्च सिवुश्च सह् च स्तम्भुसिवुसहस्तेषां ''इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—न, सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—स्तम्भु, सिवु, सह इत्येतेषां सकारस्य चङि परतो मूर्धन्यादेशो न भवति ॥ *स्तन्भेः* (८।३।६७) *परिनिविभ्यः०* इति च प्राप्ते प्रतिषिध्यते ॥ *उदा०*—स्तम्भु—पर्यतस्तम्भत्, अभ्यतस्तम्भत्। सिवु—पर्यसीषिवत्, न्यसीषिवत्। सह—पर्यसीषहत्, न्यसीषहत् ॥

भाषार्थः—[*स्तम्भुसिवुसहाम्*] स्तम्भु, षिवु, तथा षह धातु के सकार को [*चङि*] चङ् परे रहते मूर्धन्य आदेश नहीं होता ॥ स्तम्भु को *स्तन्भेः* (८।३।६७) से तथा अन्यों को *परिनिविभ्यः०* (८।३।७०) से षत्व प्राप्त था, प्रतिषेध कर दिया। उपसर्ग से उत्तर इनके अभ्यास के सकार को *स्थादिष्वभ्यासेन चा०* (८।३।६४) से तथा *सिवादीनां०* (८।३।७१) से अट् के व्यवाय में भी षत्व प्राप्ति थी, प्रतिषेध हो गया। अभ्यास से उत्तर तो *आदेश०* (८।३।५९) से षत्व हो ही जायेगा ॥ णिजन्त के लुङ् में सिद्धियाँ बहुत बार परि० ६।१।११ आदि में दिखा चुके हैं तद्वत् यहाँ भी जानें। पर्यतस्तम्भत् में *शर्पूर्वाः खयः* (७।४।६१) से अभ्यास का खय् शेष रहा है। सिव् को लघूपध गुण तथा सह् की उपधा को वृद्धि णिच् परे हुई थी, सो दोनों को *णौ चङ्यु०* (७।४।१) से ह्रस्व एवं सन्वद्भाव होकर अभ्यास को अपीपचत् के समान इत्वादि कार्य हुए हैं ॥

सुनोतेः स्यसनोः ॥८।३।११७॥

सुनोतेः ६।१॥ स्यसनोः ७।२॥ स०—स्यश्च सन् च स्यसनौ तयोः··· इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—न, सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ अर्थः—स्ये सनि च परतः सुनोतेः सकारस्य मूर्धन्यादेशो न भवति ॥ उदा०—अभिसोष्यति, परिसोष्यति, अभ्यसोष्यत् (लङ्) पर्यसोष्यत् । सनि–अभिसुसूः ॥

भाषार्थः—[*स्यसनोः*] स्य तथा सन् परे रहते [*सुनोतेः*] सुनोति (षुञ्) के सकार को मूर्धन्य आदेश नहीं होता ॥ *उपसर्गात् सुनोति०* (८।३।६५) से षत्व प्राप्ति थी प्रतिषेध कर दिया । सन्नन्त के उदाहरण में 'अभि सुसू ष' परि० १।२।८ के चिचीषति के समान बना । पश्चात् 'सुसू ष' की धातु संज्ञा होकर उससे क्विप् (३।२।७६) हुआ । क्विप् का सर्वापहारी लोप एवं *अतो लोपः* (६।४।४८) लगकर तथा षत्व के असिद्ध हो जाने से ष् को स् मानकर रुत्व विसर्जनीय होकर 'अभिसुसूः' बन गया ॥

सदेः परस्य लिटि ॥८।३।११८॥

सदेः ६।१॥ परस्य ६।१॥ लिटि ७।१॥ अनु०—न, सः इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—सदेः धातोर्लिटि परतः परस्य सकारस्य मूर्धन्यो न भवति ॥ उदा०—अभिषसाद, परिषसाद, निषसाद, विषसाद ॥

भाषार्थः—[*लिटि*] लिट् परे रहते [*सदेः*] षद धातु के [*परस्य*] पर वाले सकार को मूर्धन्य आदेश नहीं होता है ॥ लिट् में द्विर्वचन कर लेने पर दो सकार हो जाते हैं, तो *स्थादिष्वभ्या०* (८।३।६४) सूत्र से अभ्यास के व्यवाय में भी *सदिरप्रतेः* (८।३।६६) से पर वाले सकार को षत्व प्राप्त था, निषेध हो गया । पूर्व वाले सकार को तो *सदिरप्रतेः* से षत्व हो ही जायेगा, क्योंकि यहाँ पर वाले का ही निषेध है ॥

निव्यभिभ्योऽड्व्यवाये वा छन्दसि ॥८।३।११९॥

निव्यभिभ्यः ५।३॥ अड्व्यवाये ७।१॥ वा अ० ॥ छन्दसि ७।१॥ स०—निश्च विश्च अभिश्च निव्यभयस्तेभ्यः···इतरेतरद्वन्द्वः । अटा

व्यवायोऽड्व्यवायस्तस्मिन्'''तृतीयातत्पुरुषः ॥ अनु०—न, सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—नि, वि, अभि इत्येतेभ्य उपसर्गेभ्य उत्तरस्य सकारस्याड्व्यवाये छन्दसि विषये विकल्पेन मूर्धन्यादेशो न भवति ॥ उदा०—न्यषीदत् पिता नः । व्यषीदत् पिता नः । व्यष्टौत्, अभ्यष्टौत् । पक्षे—न्यसीदत् (ऋ० ८।८१।१) व्यसीदत्, व्यस्तौत्, अभ्यस्तौत् ॥

भाषार्थः—[*निव्यभिभ्यः*] नि, वि तथा अभि उपसर्गों से उत्तर सकार को [*अड्व्यवाये*] अट् का व्यवधान होने पर [*छन्दसि*] वेद विषय में [*वा*] विकल्प से मूर्धन्य आदेश नहीं होता ॥ अर्थात् विकल्प होता है ॥ पूर्व सूत्र से 'सदेः' की अनुवृत्ति नहीं आ रही, अतः सामान्य रूप से इन उपसर्गों से उत्तर सकार को षत्व का विकल्प होता है । इस प्रकार जिस किसी सूत्र से षत्व की प्राप्ति हो उसी का छन्द में पक्ष में प्रतिषेध हो जाता है । षद्लृ को *पाघ्राध्मा०* (७।३।७८) से सीद आदेश होकर लङ् में न्यषीदत् आदि प्रयोग बने हैं, सो *सदिरप्रतेः* (८।३।६६) से नित्य षत्व प्राप्त था, विकल्प कर दिया । व्यष्टौत् आदि में *उपसर्गात् सुनो०* (८।३।६५) की नित्य प्राप्ति थी, विकल्प कर दिया । वि अ स्तौ त्=(लङ्) व्यष्टौत्, व्यस्तौत् *उतो वृद्धि०* (७।३।८९) से वृद्धि एवं शप् का लुक् (२।४।७२) होकर बन गया है ॥

॥ *इति तृतीयः पादः* ॥

—:०:—

चतुर्थः पादः

रषाभ्यां नो णः समानपदे ॥८।४।१॥

रषाभ्याम् ५।२॥ नः ६।१॥ णः १।१॥ समानपदे ७।१॥ *स०*—रश्च षश्च रषौ, ताभ्यां'''इतरेतरद्वन्द्वः । समानञ्च तत् पदञ्च समानपदं तस्मिन्'''कर्मधारयतत्पुरुषः ॥ अनु०—संहितायाम् ॥ *अर्थः*—रेफष-काराभ्यामुत्तरस्य नकारस्य णकारादेशो भवति एकस्मिन् पदे, एकस्मिन्नेव पदे चेन्निमित्तनिमित्तिनौ भवतः ॥ उदा०—रेफात्—आस्तीर्णम्,

शीर्णम्। ऋकारान्तर्वर्तिरेफश्रुतिमाश्रित्यापि भवति[1] मातृणाम् पितृणाम्। कारात्—कुष्णाति, पुष्णाति, मुष्णाति ॥

भाषार्थः—[*रषाभ्याम्*] रेफ तथा षकार से उत्तर [*नः*] नकार को *णः*] णकार होता है [*समानपदे*] एक ही पद में, अर्थात् निमित्त जिसके रेफ षकार को मानकर णत्व हो रहा है) एवं निमित्ती (जिसको त्व हो रहा है) दोनों एक ही पद में हों, भिन्न २ पदों में नहीं तो ॥ एक ब्द का पर्यायवाची यहाँ 'समान' पद है ॥ आस्तीर्णम् विशीर्णम् की सद्धि सूत्र ७।१।१०० में देखें। यहाँ इत्व रपरत्व करके रेफ से उत्तर को ण् हुआ है। ऋकारगत रेफश्रुति को मानकर भी न को ण हो जाता है। यथा मातृणाम् पितृणाम्। कुष्णाति आदि में श्ना विकरण ३।१।८१) हुआ है, उसी न् को षकार से उत्तर णत्व हो गया है ॥

यहाँ से '*रषाभ्यां नो णः*' की अनुवृत्ति ८।४।३८ तक जायेगी ॥

अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि ॥८।४।२॥

अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवाये ७।१॥ अपि अ० ॥ *स०*—अट् च कुश्च पुश्च आङ् च नुम् च अट्...नुमः, इत्येतैर्व्यवायोऽट्व्यवायस्तस्मिन्... द्वन्द्व-र्भतृतीयातत्पुरुषः ॥ *अनु०*—रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—अट्, कु, पु, आङ्, नुम् इत्येतैर्व्यवायेऽपि रेफषकाराभ्यामुत्तरस्य कारस्य णकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—अड्व्यवाये—करणम्, हरणम्। किरिणा, गिरिणा। कुरुणा, गुरुणा। कवर्गव्यवाये—अर्केण, मूर्खेण, र्गेण, अर्घेण। पवर्गव्यवाये—दर्पेण, रेफेण, गर्भेण, चर्म्मणा, वर्म्मणा। आङ्व्यवाये—पर्याणद्धम्, निराणद्धम्। नुम्व्यवाये—बृंहणम्, बृंहणीम् ॥

भाषार्थः—रेफ तथा षकार से उत्तर [*अट्कु...वाये*] अट् (प्रत्याहार) कु=कवर्ग, पु=पवर्ग, आङ् तथा नुम् का व्यवधान होने पर *अपि*] भी नकार को णकार हो जाता है ॥ करणम् आदि में रेफ एवं के मध्य में अ, इ, उ (अट्) का व्यवधान है तो भी णत्व हो गया है। अर्केण आदि में रेफ से उत्तर कवर्ग एवं अट् 'ए' का व्यवधान है,

---

१. ये ऋकारे रेफश्रुतिं नाद्रियन्ते तेषां मते ऋकारग्रहणमत्र सूत्र उपसंख्यायते।

तो भी णत्व हो गया ॥ अट् आदि का व्यवधान चाहे पृथक् पृथक् का हो या अट् कवर्गादि का समुदित रूप में हो यथा अर्केण आदि में कवर्ग एवं अट् का है, प्रत्येक अवस्था में णत्व हो जाता है ॥ नद्धम् की सिद्धि सूत्र ८।२।३५ में देखें। तद्वत् परि आ नद्धम् = यहाँ अट् एवं आङ् के व्यवधान में भी णत्व होकर पर्याणद्धम् निराणद्धम् बन गया। बृहि को इदितो नुम्० (७।१।५८) से नुम्, एवं *नश्चापदान्तस्य०* (८।३।२४) से नुम् को अनुस्वार होकर बृंहणम्, बृंहणीयम् बना है, सो यहाँ नुम् एवं अट् के व्यवधान में भी णत्व हो गया है। यहाँ ऋकार अन्तर्गत रेफ-श्रुति है उससे उत्तर व्यवधान में भी णत्व हो गया ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ८।४।३८ तक जायेगी ॥

पूर्वपदात् संज्ञायामगः ॥८।४।३॥

पूर्वपदात् ५।१॥ संज्ञायाम् ७।१॥ अगः ५।१॥ *स०*—अविद्यमानो गकारो यस्मिन् स अग्, तस्मात्... बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—रषाभ्यां नो णः, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—गकारवर्जितात् पूर्वपदस्थान्निमित्तादुत्तरस्य नकारस्य णकार आदेशो भवति संज्ञायां विषये ॥ *उदा०*—द्रुणसः, वार्ध्रीणसः, खरणसः, शूर्पणखा ॥

भाषार्थः—[*अगः*] गकार भिन्न [*पूर्वपदात्*] पूर्वपद में स्थित निमित्त से उत्तर [*संज्ञायाम्*] संज्ञा विषय में नकार को णकारादेश होता है ॥ पूर्व सूत्र से गकार के व्यवधान में भी प्राप्ति थी, 'अगः' प्रतिषेध कर दिया। *रषाभ्याम्०* (८।४।१) से समान पद (एक ही पद) में ही णत्व प्राप्ति थी, यहाँ पूर्वपद में स्थित निमित्त से उत्तर उत्तरपद को भी णत्व विधान कर दिया ॥ सिद्धियाँ ५।४।११८ सूत्र में देखें। सभी उदाहरणों में बहुव्रीहि समास है, एवं ये किसी की संज्ञायें हैं। वार्ध्रीव नासिका यस्य स = वार्ध्रीणसः मृगविशेष को कहते हैं ॥

यहाँ से '*पूर्वपदात्*' की अनुवृत्ति ८।४।१३ तक तथा '*संज्ञायाम्*' की ८।४।४ तक जायेगी ॥

वनं पुरगामिश्रकासिध्रकाशारिकाकोटराग्रेभ्यः ॥८।४।४॥

वनम् १।१॥ षष्ठीस्थाने व्यत्ययेन प्रथमा ॥ पुरगा...ग्रेभ्यः ५।३॥ *स०*—पुरगाश्च मिश्रकाश्च सिध्रकाश्च शारिकाश्च कोटराश्च अग्रे च

पुरगा''' ग्रयस्तेभ्यः इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—पूर्वपदात् संज्ञायाम्, रषाभ्यां नो णः, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—पुरगा, मिश्रका, सिध्रका, शारिका, कोटरा, अग्रे इत्येतेभ्यः पूर्वपदेभ्य उत्तरस्य वनशब्दस्य नकारस्य णकारादेशो भवति संज्ञायां विषये ॥ *उदा०*—पुरगावणम्, मिश्रकावणम्, सिध्रकावणम्, शारिकावणम्, कोटरावणम्, अग्रेवणम् ॥

भाषार्थः—[*पुरगा''' ग्रेभ्यः*] पुरगा, मिश्रका, सिध्रका, शारिका, कोटरा, अग्रे इन शब्दों से उत्तर [*वनम्*] वन शब्द के नकार को णकारादेश संज्ञा विषय में होता है ॥ पुरगावणम् आदि में षष्ठी समास है। उदाहरणों में *वनगिर्योः०* (६।३।११५) से पूर्वपद को दीर्घ हुआ है। अग्रेवणम् में वनस्य अग्रे यहाँ षष्ठी समास करके *राजदन्तादिषु०* (२।२।३१) से वनम् का परनिपात तथा *हलदन्तात् सप्तम्याः०* (६।३।७) से अग्रे की सप्तमी का अलुक् हुआ है ॥

यहाँ से '*वनम्*' की अनुवृत्ति ८।४।६ तक जायेगी ॥

प्रनिरन्तःशरेक्षुप्लक्षाम्रकार्ष्यखदिरपीयूक्षाभ्योऽसंज्ञायामपि ॥८।४।५॥

प्रनि''' क्षाभ्यः ५।३॥ असंज्ञायाम् ७।१॥ अपि अ० ॥ *स०*—प्रनि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः। असंज्ञा० इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—वनम्, पूर्वपदात्, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—प्र, निर् अन्तर्, शर, इक्षु, प्लक्ष, आम्र, कार्ष्य, खदिर, पीयूक्षा इत्येतेभ्य उत्तरस्य वनशब्दस्य नकारस्य संज्ञायामपि, असंज्ञायामपि णकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—प्र-प्रवणे यष्टव्यम्। निर्-निर्वणे प्रतिधीयते। अन्तर्-अन्तर्वणे। शर-शरवणम्। इक्षु-इक्षुवणम्। प्लक्ष-प्लक्षवणम्। आम्र-आम्रवणम्। कार्ष्य-कार्ष्यवणम्। खदिर-खदिरवणम्। पीयूक्षा-पीयूक्षावणम् ॥

भाषार्थः—[*प्रनि''' क्षाभ्यः*] प्र, निर्, अन्तर्, शर, इक्षु, प्लक्ष, आम्र, कार्ष्य, खदिर, पीयूक्षा इनसे उत्तर वन शब्द के नकार को [*असंज्ञायाम्*] असंज्ञा विषय में भी तथा अपि ग्रहण से संज्ञा विषय में [*अपि*] भी णकार आदेश होता है ॥ प्रवणे तथा निर्वणे में *कुगतिप्रादयः* (२।२।१८) से समास हुआ है। अन्तर्वणे में विभक्त्यर्थ में

अव्ययीभाव (२।१।५) समास तथा अन्यों में षष्ठी समास हुआ है। रे शब्द संज्ञा और असंज्ञा दोनों रूप में हैं ॥

विभाषौषधिवनस्पतिभ्यः ॥८।४।६॥

विभाषा १।१॥ ओषधिवनस्पतिभ्यः ५।३॥ *स०*—ओषधिश्च वनस्पतिश्च ओषधिवनस्पती, तेभ्यः……इतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—वनम्, पूर्वपदात्, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम्। *अर्थः*—ओषधिवाचि यत् पूर्वपदं वनस्पतिवाचि च तत्स्थान्निमित्तादुत्तरस्य वनशब्दस्य नकारस्य विकल्पेन णकारादेशो भवति॥ *उदा०*—ओषधिवाचिभ्यः—दूर्वावणम्, दूर्वावनम्। मूर्वावणम्, मूर्वावनम्। वनस्पतिभ्यः—शिरीषवणम्, शिरीषवनम्। बदरीवणम्, बदरीवनम्॥

भाषार्थः—[*ओषधिवनस्पतिभ्यः*] ओषधिवाची तथा वनस्पतिवाची जो पूर्वपद वाले शब्द उनमें स्थित जो णत्व के निमित्त उससे उत्तर वन शब्द के नकार को [*विभाषा*] विकल्प करके णकार आदेश होता है॥

अह्नोऽदन्तात् ॥८।४।७॥

अह्नः १।१॥ पूर्ववत् षष्ठ्याः स्थाने प्रथमा॥ अदन्तात् ५।१॥ *स०*—अत् अन्ते यस्य स अदन्तस्तस्मात्……बहुव्रीहिः॥ *अनु०*—पूर्वपदात्, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम्॥ *अर्थः*—अदन्तं यत्पूर्वपदं तत्स्थान्निमित्तादुत्तरस्याह्नो नकारस्य णकार आदेशो भवति॥ *उदा०*—पूर्वाह्णः, अपराह्णः॥

भाषार्थः—[*अदन्तात्*] अदन्त जो पूर्वपद उसमें स्थित निमित्त (रेफ षकार) से उत्तर [*अह्नः*] अह्न के नकार को णकार होता है॥ सिद्धि परि० २।४।२९। में देखें। पूर्व शब्द में रेफ णत्व का निमित्त है॥

वाहनमाहितात् ॥८।४।८॥

वाहनम् १।१॥ आहितात् ५।१॥ *अनु०*—पूर्वपदात्, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम्॥ *अर्थः*—आहितवाचि यत्पूर्वपदं तत्स्थान्निमित्तादुत्तरस्य वाहननकारस्य णकार आदेशो भवति॥ *उदा०*—इक्षूणां वाहनम् = इक्षुवाहणम्, शरवाहणम्, दर्भवाहणम्॥

भाषार्थः—[*आहितात्*] आहितवाची जो पूर्वपद तत्स्थ निमित्त से
त्तर [*वाहनम्*] वाहन शब्द के नकार को णकार आदेश होता है ॥
ाहन शकट इत्यादि को कहते हैं, और उसमें जो पदार्थ रखा (भरा)
ाता है वह आहित कहाता है ॥

पानं देशे ॥८।४।९॥

पानम् १।१॥ देशे ७।१॥ *अनु०*—पूर्वपदात्, अट्कुप्वाङ्नुम्व्य-
ायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—पूर्वपदस्थान्निमित्ता-
ुत्तरस्य पाननकारस्य देशाभिधाने णकार आदेशो भवति ॥ *उदा०*—
ीरं पानं येषां ते क्षीरपाणा उशीनराः । सुरापाणाः प्राच्याः । सौवीरपाणा
ाह्लीकाः । कषायपाणा गन्धाराः ॥ पीयते इति पानम्, कृत्यल्युटो०
३।३।११३) इति कर्मणि ल्युट् ॥

भाषार्थः—पूर्वपद में स्थित निमित्त से उत्तर [*पानम्*] पान शब्द के
ाकार को [*देशे*] देश का अभिधान हो रहा हो तो णकार आदेश होता
ै ॥ क्षीरपाणाः = क्षीर पान करने वाले उशीनर देशवासी, यहाँ
ेशाभिधान स्पष्ट है ॥ 'पान' से यहाँ जो पिया जाए उसका ग्रहण
ोता है ॥

यहाँ से '*पानम्*' की अनुवृत्ति ८।४।१० तक जायेगी ॥

वा भावकरणयोः ॥८।४।१०॥

वा अ० ॥ भावकरणयोः ७।२॥ *स०*—भावश्च करणञ्च भावकरणे
ायोः ''इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—पानम्, पूर्वपदात्, अट्कुप्वाङ्नुम्व्य-
ायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—पूर्वपदस्थान्निमित्ता-
ुत्तरस्य भावे करणे च यः पानशब्दस्तस्य नकारस्य णकार आदेशो
वेकल्पेन भवति ॥ *उदा०*—भावे—क्षीरपाणं वर्त्तते, क्षीरपानम् । कषाय-
ाणम्, कषायपानम् । सुरापाणम्, सुरापानम् । करणे—क्षीरपाणः कंसः,
ीरपानः ॥

भाषार्थः—पूर्वपद में स्थित निमित्त से उत्तर [*भावकरणयोः*]
ाव तथा करण में वर्त्तमान जो पान शब्द उसके नकार को [*वा*]
वेकल्प से णकार आदेश होता है ॥ भाव में पान शब्द का विग्रह

पीतिः = पानम् होगा, तथा करण में पीयते अनेन = पानः यहाँ करणा*धिकरणयोश्च*(३।३।११७) से ल्युट् होता है ॥

यहाँ से '*वा*' की अनुवृत्ति ८।४।११ तक जायेगी ॥

प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु च ॥८।४।११॥

प्राति···क्तिषु ७।३॥ च अ० ॥ *स०*—प्रातिपदिकस्य अन्तः प्रातिपदिकान्तः, षष्ठीतत्पुरुषः । प्रातिपदिकान्तश्च नुम् च विभक्तिश्च प्राति···क्तयस्तेषु···इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—वा, पूर्वपदात्, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—पूर्वपदस्थान्निमित्तादुत्तरस्य प्रातिपदिकान्ते नुमि विभक्तौ च यो नकारस्तस्य वा णकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—प्रातिपदिकान्ते–माषवापिणौ, माषवापिनौ । नुमि—माषवापाणि, माषवापानि । व्रीहिवापाणि, व्रीहिवापानि । विभक्तौ–माषवापेण, माषवापेन । व्रीहिवापेण, व्रीहिवापेन ॥

भाषार्थः—पूर्वपद में स्थित निमित्त से उत्तर [*प्राति···क्तिषु*] प्रातिपदिक के अन्त में जो नकार तथा नुम् एवं विभक्ति में जो नकार उसको [च] भी विकल्प से णकार आदेश होता है ॥ माषवापिणौ यहाँ माष उपपद रहते वप धातु से *बहुलमाभीक्ष्ण्ये* (३।२।८१) से णिनि प्रत्यय होकर माषवापिन् औ रहा । अब यह प्रातिपदिक के अन्त का नकार है, सो उसे णत्व हो गया । माषान् वपन्तीति माषवापाणि यहाँ *कर्मण्यण्* (३।२।१) से अण् प्रत्यय होकर 'माष वाप' बना, तत्पश्चात् परि० १।१।४१ के कुण्डानि के समान सब कार्य होकर माषवापानि रहा । पूर्वपद में षकार णत्व का निमित्त है, अतः नुम् के न् को णत्व होकर माषवापाणि बन गया । इसी प्रकार माषवापेण में 'इन' (७।१।१२) विभक्ति का नकार है, सो उसे णत्व हो गया ॥

यहाँ से '*प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु*' की अनुवृत्ति ८।४।१३ तक जायेगी ॥

एकाजुत्तरपदे णः ॥८।४।१२॥

एकाजुत्तरपदे ७।१॥ णः १।१॥ *स०*—एकोऽच् यस्मिन् स एकाच् बहुव्रीहिः । एकाच् उत्तरपदं यस्य स एकाजुत्तरपदस्तस्मिन् बहुव्रीहिः ॥ अनु०—प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु, पूर्वपदात्, अटकुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि,

ंहितायाम् ।। *अर्थ:*—एकाजुत्तरपदे समासे पूर्वपदस्थान्निमित्तादुत्तरस्य ातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु च यो नकारस्तस्य णकारादेशो भवति ।। दा०—वृत्रहणौ, वृत्रहण: । नुमि—क्षीरपाणि, सुरापाणि । विभक्तौ—ोरपेण, सुरापेण ।।

भाषार्थ:—[*एकाजुत्तरपदे*] एक अच् है उत्तरपद में जिस समास ; वहाँ, पूर्वपद में स्थित निमित्त से उत्तर प्रातिपदिकान्त नुम् तथा ंभक्ति के नकार को [*ण:*] णकार आदेश होता है ।। वृत्रहणौ में वृत्र पपद रहते हन् धातु से *ब्रह्मभ्रूण०* (३।२।८७) से क्विप् हुआ है । हाँ हन् एक अच् वाला पद उत्तरपद में है । क्षीरं पिबन्ति = क्षीरपाणि, हाँ *आतोऽनुपस०* (३।२।३) से क प्रत्यय एवं *आतो लोप०* (६।४।६४) । आकार लोप होकर 'क्षीरप' से बहुवचन में कुण्डानि के समान ंद्धि जानें ।।

कुमति च ।।८।४।१३।।

कुमति ७।१।। च अ० ।। *अनु०*—प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु, पूर्वपदात्, ाट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो ण:, संहितायाम् ।। कुरस्मिन्नस्तितत् ुमत् तस्मिन्...मतुप्प्रत्यय: ।। *अर्थ:*—पूर्वपदस्थान्निमित्तादुत्तरस्य कवर्गवति चोत्तरपदे प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु नकारस्य णकारादेशो भवति ।। *उदा०*—वस्त्रयुगिणौ, वस्त्रयुगिण: । स्वर्गकामिणौ, वृषगामिणौ । नुमि—वस्त्रस्य युगाणि = वस्त्रयुगाणि, खरयुगाणि । विभक्तौ—ास्त्रयुगेण, खरयुगेण ।।

भाषार्थ:—पूर्वपद में स्थित निमित्त से उत्तर [*कुमति*] कवर्गवान् ाब्द उत्तरपद रहते [*च*] भी प्रातिपदिकान्त नुम् तथा विभक्ति के नकार को णकार आदेश होता है ।। पूर्व सूत्र से एकाच् उत्तरपद परे रहते ही ाप्त था, अनेकाच् उत्तरपद परे रहते भी हो जाये, इसलिये यह वचन है ।। युग से *अत इनिठनौ* (५।२।११५) से इनि प्रत्यय होकर युगिन् बना, पश्चात् वस्त्रयोर्युगिनौ = वस्त्रयुगिणौ, वस्त्रयुगिण:, और इसी प्रकार स्वर्गकामिणौ वृषगामिणौ आदि रूप बने हैं । युग काम आदि शब्द कवर्गवान् हैं ही ।।

उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य ।।८।४।१४।।

उपसर्गात् ५।१।। असमासे ७।१।। अपि अ० ।। णोपदेशस्य ६।१।।

स०—न समासोऽसमासस्तस्मिन्'''नञ्तत्पुरुषः। ण उपदेशे यस्य (धातोः) स णोपदेशस्तस्य'''बहुव्रीहिः॥ *अनु०*—अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम्॥ *अर्थः*—उपसर्गस्थान्निमित्तादुत्तरस्य णोपदेशस्य धातोर्यो नकारस्तस्य णकारादेशो भवति, असमासेऽपि॥ *उदा०*—असमासे-प्रणमति, परिणमति। समासे-प्रणायकः, परिणायकः॥

भाषार्थः—[*उपसर्गात्*] उपसर्ग में स्थित निमित्त से उत्तर [*णोपदेशस्य*] णकार उपदेश में है जिसके ऐसे धातु के नकार को [*असमासे*] असमास में तथा अपि ग्रहण से समास में [*अपि*] भी णकार आदेश होता है॥ प्रणायकः परिणायकः में प्रादि (२।२।१८) समास हुआ है, तथा प्रणमति णम धातु से बना है। इस प्रकार णीञ् एवं णम दोनों णोपदेश धातु हैं॥

यहाँ से '*उपसर्गात्*' की अनुवृत्ति ८।४।२२ तक जायेगी॥

हिनुमीना ॥८।४।१५॥

हिनु, मीना लुप्तषष्ठ्यन्तनिर्देशः॥ *अनु०*—उपसर्गात्, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम्॥ *अर्थः*—हिनु मीना इत्येतयोरुपसर्गस्थान्निमित्तादुत्तरस्य नकारस्य णकार आदेशो भवति॥ *उदा०*—प्रहिणोति, प्रहिणुतः। प्रमीणाति, प्रमीणीतः॥

भाषार्थः—उपसर्ग में स्थित निमित्त से उत्तर [*हिनु मीना*] हिनु तथा मीना के नकार को णकार आदेश होता है॥ हि गतौ धातु से *स्वादिभ्यः श्नुः* (३।१।७३) से श्नु विकरण करके सूत्र में 'हिनु' निर्देश किया है, तथा मीञ् हिंसायाम् से श्ना विकरण (३।१।८१) करके 'मीना' निर्देश किया है॥ प्रमीणीतः में श्ना के आ को ई *हल्यघोः* (६।४।११३) से ईत्व हुआ है॥

आनि लोट् ॥८।४।१६॥

आनि लुप्तषष्ठ्यन्तनिर्देशः॥ लोट् १।१॥ *अनु०*—उपसर्गात्, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम्॥ *अर्थः*—उपसर्गस्थान्निमित्तादुत्तरस्य लोडादेशस्य 'आनि' इत्येतस्य नकारस्य णकारादेशो भवति॥ *उदा०*—प्रवपाणि, परिवपाणि। प्रयाणि, परियाणि॥

भाषार्थः—उपसर्ग में स्थित निमित्त से उत्तर [*लोट्*] लोडादेश जो [*आनि*] आनि उसके नकार को णकारादेश होता है ॥ *मेर्निः* (३।४।८९) से मि को नि तथा *आडुत्तमस्य०* (३।४।९२) से आट् आगम होकर जो 'आनि' रूप बनता है, उसका यहाँ ग्रहण है ॥

नेर्गदनदपतपदघुमास्यतिहन्तियातिवातिद्रातिप्सातिवपतिवहतिशाम्यतिचिनोतिदेग्धिषु च ॥८।४।१७॥

नेः ६।१॥ गद॰॰॰देग्धिषु ७।३॥ च अ० ॥ *स०*—गदनद० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—उपसर्गात्, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—उपसर्गस्थान्निमित्तादुत्तरस्य नेरित्येतस्य नकारस्य णकारादेशो भवति, गद, नद, पत, पद, घु, मा, स्यति, हन्ति, याति, वाति, द्राति, प्साति, वपति, वहति, शाम्यति, चिनोति, देग्धि इत्येतेषु परतः ॥ *उदा०*—गद-प्रणिगदति, परिणिगदति । नद-प्रणिनदति, परिणिनदति । पत-प्रणिपतति, परिणिपतति । पद-प्रणिपद्यते, परिणिपद्यते । घुसंज्ञकस्य-प्रणिददाति, परिणिददाति । प्रणिदधाति, परिणिदधाति । माङ्-प्रणिमिमीते, परिणिमिमीते । मेङ्-प्रणिमयते, परिणिमयते । मा इत्यनेन माङ्मेङोर्द्वयोरपि ग्रहणम् । स्यति-प्रणिष्यति, परिणिष्यति । हन्ति-प्रणिहन्ति, परिणिहन्ति । याति-प्रणियाति, परिणियाति । वाति-प्रणिवाति, परिणिवाति । द्राति-प्रणिद्राति, परिणिद्राति । प्साति-प्रणिप्साति, परिणिप्साति । वपति-प्रणिवपति, परिणिवपति । वहति-प्रणिवहति, परिणिवहति । शाम्यति-प्रणिशाम्यति, परिणिशाम्यति । चिनोति-प्रणिचिनोति, परिणिचिनोति । देग्धि-प्रणिदेग्धि, परिणिदेग्धि ॥

भाषार्थः—उपसर्ग में स्थित निमित्त से उत्तर [*नेः*] नि के नकार को णकार आदेश होता है, [*गद॰॰॰देग्धिषु*] गद, नद, पत, पद, घुसंज्ञक, तथा मा, स्यति (षो) हन्ति, याति, वाति, द्राति, प्साति, वपति, वहति, शाम्यति, (शम) चिनोति, एवं देग्धि (दिह उपचये) धातुओं के परे रहते [*च*] भी ॥ 'घु' से यहाँ घुसंज्ञक धातुओं का ग्रहण है, एवं 'मा' से माङ् एवं मेङ् दोनों का ग्रहण होता है ॥ प्रणिददाति आदि की सिद्धि परि० १।१।१९ में देखें । प्रणिष्यति में *उपसर्गात् सुनोति०*

(८।३।६५) से षत्व हुआ है, सिद्धि वहीं देखें। प्रणिशाम्यति में शम् *मष्टानां०* (७।३।७४) से दीर्घ होता है। प्रणिदेग्धि यहाँ दिह् धातु के को *दादेर्धातोर्घः* (८।२।३२) से घ् तथा *झषस्तथो०* (८।२।४०) धत्व, शप् का लुक् (२।४।७२) एवं *झलां जश्०* (८।४।५२) से जश् गकार हुआ है। मिमीते की सिद्धि ७।४।७६ सूत्र में की है तद्वत् प्राि मिमीते भी जानें ॥

यहाँ से 'नेः' की अनुवृत्ति ८।४।१८ तक जायेगी ॥

शेषे विभाषाऽकखादावषान्त उपदेशे ॥८।४।१८॥

शेषे ७।१॥ विभाषा १।१॥ अकखादौ ७।१॥ अषान्ते ७।१॥ उपदेशे ७।१॥ *स०*—कश्च खश्च कखौ, इतरेतरद्वन्द्वः। कखौ आदी यस्य स कखादिः, बहुव्रीहिः। न कखादिरकखादिस्तस्मिन्'''नञ्तत्पुरुषः। षः अन्ते यस्य स षान्तः, बहुव्रीहिः। न षान्तोऽषान्तस्तस्मिन्'''नञ्तत्पुरुषः। *अनु०*—नेः, उपसर्गात्, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः संहितायाम् ॥ *अर्थः*—अककारादिरखकारादिरषकारान्तश्च उपदेशे यो धातुः शेषस्तस्मिन् परत उपसर्गस्थान्निमित्तादुत्तरस्य नेर्नकारस्य विभाषा णकार आदेशो भवति ॥ *उदा०*—प्रणिपचति, प्रनिपचति। प्रणिभिनत्ति, प्रनिभिनत्ति ॥

भाषार्थः—उपसर्ग में स्थित निमित्त से उत्तर जो [*उपदेशे*] उपदेश में [*अकखादौ*] ककार तथा खकार आदि वाला नहीं है एवं [*अषान्तः*] षकारान्त भी नहीं है ऐसे [*शेषे*] शेष धातु के परे रहते नि के नकार को [*विभाषा*] विकल्प से णकारादेश होता है ॥ शेष यहाँ पूर्वसूत्रोक्त धातुओं की अपेक्षा से रखा है सो उनसे शेष धातुओं के परे रहते णत्व होगा ॥ उदाहरणों में पच् एवं भिद् धातु ककार खकार आदि वाले नहीं हैं, तथा अषान्त भी हैं, अतः णत्व हो गया ॥ भिनत्ति की सिद्धि परि० १।१।४६ में देखें ॥

अनितेरन्तः ॥८।४।१९॥

अनितेः ६।१॥ अन्तः १।१॥ *अनु०*—उपसर्गात्, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—उपसर्गस्थान्निमित्तादुत्तरस्य अनितेर्नकारस्य पदान्ते वर्त्तमानस्य णकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—हे प्राण्, हे पराण् ॥

भाषार्थः—उपसर्ग में स्थित निमित्त से उत्तर पद के [*अन्तः*] अन्त में वर्त्तमान [*अनितेः*] अन धातु के नकार को णकार आदेश होता है ॥ *पदान्तस्य* (८।४।३६) से पद के अन्त में णत्व का निषेध किया है, सो उसी की अपेक्षा से यहाँ 'अन्तः' पद सूत्र में रखा है, अतः 'पदान्त' ऐसा सूत्रार्थ किया है। इस प्रकार यह सूत्र *पदान्तस्य* का अपवाद है। अथवा 'अन्तः' शब्द को समीपवाची मानकर भी (यथा *हलन्ताच्च* १।२।१० में है) सूत्रार्थ किया जा सकता है, ऐसा अर्थ करने पर सूत्रार्थ होगा कि—रेफ एवं षकार के समीपस्थ अनिति के नकार को णकारादेश होता है, तो प्राणिति, पराणिति में रेफ एवं नकार के मध्य में एक वर्ण 'अ' होने पर भी णत्व हो जाता है। एवं पर्यनिति में दो वर्णों का व्यवधान होने से नहीं होता। ये दोनों ही पक्ष भाष्य में 'अपर आह'—करके दिखाये हैं ॥

अन धातु से क्विप् करके सम्बुद्धि में हे प्राण् हे पराण् बनता है, तथा इसी धातु से शप् का लुक् (२।४।७२) एवं *रुदादिभ्यः०* (७।२।७६) से इट् आगम होकर अन् इट् ति = प्र अन् इ ति = प्राणिति, पराणिति बना है ॥

यहाँ से '*अनितेः*' की अनुवृत्ति ८।४।२० तक जायेगी ॥

उभौ साभ्यासस्य ॥८।४।२०॥

उभौ १।२॥ साभ्यासस्य ६।१॥ *स०*—अभ्यासेन सह साभ्यासस्तस्य···तृतीयातत्पुरुषः ॥ *अनु०*—अनितेः, उपसर्गात्, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—उपसर्गस्थान्निमित्तादुत्तरस्य साभ्यासस्य अनितेरुभयोर्नकारयोर्णकार आदेशो भवति ॥ *उदा०*—प्राणिणिषति, प्राणिणत् । पराणिणिषति, पराणिणत् ॥

भाषार्थः—उपसर्ग में स्थित निमित्त से उत्तर [*साभ्यासस्य*] अभ्यास सहित अन धातु के [*उभौ*] दोनों नकारों को णकार आदेश होता है। अर्थात् अभ्यास के एवं उससे उत्तर के दोनों नकारों को ॥ द्विर्वचन कर लेने पर अभ्यास का व्यवधान होने से णत्व प्राप्ति नहीं थी, विधान कर दिया ॥ प्राणिणिषति—प्र अन् इ स यहाँ *अजादेर्द्वि०* (६।१।२) से 'नि नि' द्वित्व हुआ है। प्राणिणत् यह णिजन्त के लुङ् का रूप है, जो कि पूर्व की गई सिद्धियों के अनुसार है ॥

हन्तेरत्पूर्वस्य ॥८।४।२१॥

हन्तेः ६।१॥ अत्पूर्वस्य ६।१॥ स०—अत् पूर्वो यस्मात् (नकारात्) स अत्पूर्वस्तस्य ... बहुव्रीहिः ॥ अनु०—उपसर्गात्, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—उपसर्गस्थान्निमित्तादुत्तरस्य अकारपूर्वस्य हन्तिनकारस्य णकार आदेशो भवति ॥ *उदा०*—प्रहण्यते, परिहण्यते, प्रहणनम्, परिहणनम् ॥

भाषार्थः—उपसर्ग में स्थित निमित्त से उत्तर [*अत्पूर्वस्य*] अकार पूर्व में है जिससे ऐसे [*हन्तेः*] हन् धातु के नकार को णकारादेश होता है ॥ अकार पूर्व इसलिये कह दिया कि जहाँ हन् की उपधा अकार का लोप हो, वहाँ णत्व न हो ॥ परि हन् यक् त = परिहण्यते ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ८।४।२३ तक जायेगी ॥

वमोर्वा ८।४।२२॥

वमोः ७।२॥ वा अ० ॥ स०—वश्च मश्च वमौ, तयोः ... इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—हन्तेरत्पूर्वस्य, उपसर्गात्, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—वकारमकारयोः परतोऽत्पूर्वस्य हन्तिनकारस्योपसर्गस्थान्निमित्तादुत्तरस्य विकल्पेन णकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—प्रहण्वः, परिहण्वः । पक्षे—प्रहन्वः, परिहन्वः । म—प्रहण्मः, परिहण्मः । प्रहन्मः, परिहन्मः ॥

भाषार्थः—उपसर्ग में स्थित निमित्त से उत्तर अकार पूर्व वाले हन् धातु के नकार को [*वा*] विकल्प से [*वमोः*] व तथा म परे रहते णकार आदेश होता है ॥ पूर्व सूत्र से नित्य णत्व प्राप्त था, विकल्प कर दिया ॥ उदाहरणों में वस् मस् का व म परे है ॥

अन्तरदेशे ॥८।४।२३॥

अन्तः अ० ॥ अदेशे ७।१॥ स०—न देशोऽदेशस्तस्मिन् ... नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—हन्तेरत्पूर्वस्य, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—अन्तःशब्दादुत्तरस्यात्पूर्वस्य हन्तिनकारस्य णकारादेशो भवति अदेशाभिधाने ॥ *उदा०*—अन्तर्हण्यते, अन्तर्हणनं वर्त्तते ॥

भाषार्थः—[*अन्तः*] अन्तर् शब्द से उत्तर अकार पूर्व वाले हन् धातु के नकार को णकारादेश होता है, [*अदेशे*] देश को न कहा जा रहा हो तो ॥ अन्तर्हणनम् यहाँ भाव में ल्युट् प्रत्यय तथा *अन्तरपरिग्रहे* (१।४।६४) से अन्तर् शब्द की गति संज्ञा होने से *कुगतिप्रादयः* (२।२।१८) से समास हुआ है ॥

यहाँ से 'अन्तरदेशे' की अनुवृत्ति ८।४।२४ तक जायेगी ॥

अयनं च ॥८।४।२४॥

अयनम् १।१।। च अ० ॥ *अनु०*—अन्तरदेशे, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—अन्तःशब्दादुत्तरस्य अयनशब्दस्य नकारस्यादेशाभिधाने णकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—अन्तरयणं वर्त्तते, अन्तरयणं शोभनम् ॥

भाषार्थः—अन्तः शब्द से उत्तर [*अयनम्*] अयन[1] शब्द के नकार को [च] भी णकार आदेश होता है, देश का अभिधान न हो तो ॥ अय अथवा इण् धातु के ल्युट् का अयनम् रूप है ॥ *कृत्यचः* (८।४।२८) से ही णत्व सिद्ध था, अदेशाभिधानार्थ यह सूत्र है ॥

छन्दस्यृदवग्रहात् ॥८।४।२५॥

छन्दसि ७।१।। ऋदवग्रहात् ५।१।। *स०*—ऋच्चासौ अवग्रहश्च ऋदवग्रहस्तस्मात् कर्मधारयतत्पुरुषः ॥ अवगृह्यते विच्छिद्य पठ्यते = अवग्रहः ॥ *अनु०*—अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् । पूर्वपदात् संज्ञा० (८।४।३) इत्यतः 'पूर्वपदात्' इत्यप्यनुवर्त्तते ॥ *अर्थः*—छन्दसि विषये ऋकारान्तादवग्रहात् पूर्वपदादुत्तरस्य णकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—नृमणाः । पितृयाणम् ॥

---

१. अयन शब्द उस गतिविशेष का नाम है जहाँ से गति आरम्भ हुई वहीं वापस आकर समाप्त हो जाये । रामायण में राम की गति = गमन अयोध्या से आरम्भ हुई और अयोध्या में लौटकर समाप्त हुई इसी *रामस्य अयनम्* के कारण ग्रन्थ का नाम भी रामायण हुआ । दक्षिणायन और उत्तरायण में भी यही गति है । अयन के इस गति विशेष अर्थ को न समझकर हिन्दी के कवियों ने "कृष्णायन" सदृश जो नामकरण किया वह अशुद्ध है ॥

भाषार्थः—[*छन्दसि*] वेद विषय में [*ऋदवग्रहात्*] ऋ
अवगृह्यमाण पूर्वपद से उत्तर नकार को णकार आदेश होत
अवगृह्यमाण अर्थात् जिसका पदपाठ काल में अवग्रह = पद को अ
किया जाये। केवल ऋ पद नहीं है, अतः ऋकारान्त सूत्रार्थ में
है ॥ अवग्रह से तात्पर्य यहाँ इतना ही है, कि जिस पद में ऋ
अवग्रह सम्भव हो, उस ऋकारान्त पद से उत्तर। इसका यह तात्पः
है कि अवग्रह की अवस्था में ही णत्व हो। उदाहरणों में नृ,
ऋकारान्त पद हैं जो अवगृहीत होते हैं। यथा नृमणाः—नृमन
नृ मनाः। पितृयाणम्—पितृयानमिति पितृ यानम्। यह याजुष प
के नियमानुसार अवग्रह दर्शाया है ॥

यहाँ से '*छन्दसि*' की अनुवृत्ति ८।४।२६ तक जायेगी ॥

नश्च धातुस्थोरुषुभ्यः ॥८।४।२६॥

नः अविभक्त्यन्तनिर्देशः ॥ च अ० ॥ धातुस्थोरुषुभ्यः ५।३॥ *स०*—
तिष्ठति धातुस्थः, तत्पुरुषः। धातुस्थश्च उरुश्च षुश्च धातुस्थोरुषवस्तेभ्य
इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—छन्दसि, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्य
णः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—धातुस्थान्निमित्तादुत्तरस्योरुशब्दात् षुश
श्चोत्तरस्य छन्दसि विषये नस् इत्येतस्य नकारस्य णकारादेशो भवा
उदा०—धातुस्थात्—अग्ने रक्षा णः (ऋ० ७।१५।१३)। ि
णो अस्मिन् (ऋ० ७।३२।२६)। उरुशब्दात्—उरु णस्कृधि (
८।७५।११)। षुशब्दात्—अभी षु णः सखीनाम् (ऋ० ४।३१।
ऊर्ध्वं ऊषु ण ऊतये (ऋ० १।३६।१३) ॥

भाषार्थः—[*धातुस्थोरुषुभ्यः*] धातु में स्थित निमित्त से उत्तर
उरु एवं षु शब्द से उत्तर [*नः*] नस् के नकार को [*च*] भी वेद वि
में णकार आदेश होता है ॥ *बहुवचनस्य वस्नसौ* (८।१।२१) से अस्मा
के स्थान में हुये नस् का यहाँ ग्रहण है ॥ रक्षा शिक्षा, लोट् मध्यम पु
के रूप हैं *द्व्यचोऽत०* (६।३।१३३) से इन्हें दीर्घ हो गया है,
प्रकार धातु में स्थित निमित्त से उत्तर उदाहरणों में नस् है। उरु णस्कृ
की सिद्धि सूत्र ६।४।१०२ में देखें। ६।३।१३२ से अभी में दीर्घ जा
षु से यहाँ 'सुञ्' निपात का ग्रहण है, *सुञः* (८।३।१०७) से
षत्व होता है ॥

यहाँ से 'नः' की अनुवृत्ति ८।४।२७ तक जायेगी ॥

उपसर्गादनोत्परः ॥८।४।२७॥

उपसर्गात् ५।१॥ अनोत्परः १।१॥ स०—ओकारात् परः ओत्परः, पञ्चमीतत्पुरुषः । न ओत् परः अनोत्परः, नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—नः, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—उपसर्गस्थान्निमित्तादुत्तरस्यानोत्परस्य नसो नकारस्य णकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—प्रणः शूद्रः, प्रणसः, प्रणो राजा ॥

भाषार्थः—[*उपसर्गात्*] उपसर्ग में स्थित निमित्त से उत्तर जो [*अनोत्परः*] ओकार से परे नहीं ऐसे नस् के नकार को णकारादेश होता है ॥ उदाहरणों में ओकार से परे नस् का नकार नहीं है ॥

विशेषः—'प्र नो मुञ्चतम्' यहाँ भी नकार को णकार न हो जाये इसके लिये 'अनोत्परः' का विग्रह 'ओकारः परोऽस्मात् स ओत्परः (बहुव्रीहिः) न ओत्परोऽनोत्परः' किया जा सकता है। वस्तुतः यह शङ्कासमाधान का विषय है, अतः यहाँ उपर्युक्त व्याख्या ही पर्याप्त है ॥

यहाँ से '*उपसर्गात्*' की अनुवृत्ति ८।४।३३ तक जायेगी ॥

कृत्यचः ॥८।४।२८॥

कृति ७।१॥ अचः ५।१॥ *अनु०*—उपसर्गात्, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—उपसर्गस्थान्निमित्तादुत्तरस्य, अच उत्तरो यः कृत्स्थो नकारस्तस्य णकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—प्रयाणम्, परियाणम्, प्रमाणम्, परिमाणम् । प्रयायमाणम्, परियायमाणम् । प्रयाणीयम्, परियाणीयम् । अप्रयाणिः, अपरियाणिः । प्रयायिणौ, परियायिणौ । प्रहीणः, परिहीणः, प्रहीणवान्, परिहीणवान् ॥

भाषार्थः—[*अचः*] अच् से उत्तर [*कृति*] कृत् में स्थित जो नकार उसको, उपसर्ग में स्थित निमित्त से उत्तर णकारादेश होता है ॥ प्रयाणम् आदि में ल्युट् (अन) प्रत्यय, तथा प्रयायमाणम् में कर्म में शानच् हुआ है, सो मुक् (७।२।८२) आगम होकर प्र या यक् मुक् आन = प्रयायमाणम् बना है। प्रयायणीयम् में अनीयर् (३।१।९६) प्रत्यय तथा अप्रयाणिः में *आक्रोशे नञ्यनिः* (३।३।११२) से अनि प्रत्यय एवं नञ् समास हुआ है। प्रयायिणौ में *सुप्यजातौ णि०* (३।२।७८) से णिनि प्रत्यय तथा

आतो युक्० (७।३।३३) से युक् आगम होकर 'प्र या युक् इन् = प्रयायिन् औ = प्रयायिणौ बना है। प्रहीणः आदि में ओहाक् धातु से निष्ठा होकर *ओदितश्च* (८।२।४५) से निष्ठा को नत्व एवं *घुमास्थागा०* (६।४।६६) से ईत्व होकर प्र ह् ई न = प्रहीणः बना है॥ सर्वत्र उदाहरणों में उपसर्ग में स्थित निमित्त (रेफ) है, एवं उससे उत्तर अन, मान, अनीयर आदि का अच् है, सो उस अच् से उत्तर कृत्संज्ञक (३।१।९३) नकार को णकार हो गया है॥

यहाँ से 'कृत्यचः' की अनुवृत्ति ८।४।३२ तक जायेगी॥

णेर्विभाषा ॥८।४।२९॥

णेः ५।१॥ विभाषा १।१॥ *अनु०*—कृत्यचः, उपसर्गात्, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम्॥ *अर्थः*—उपसर्गस्थान्निमित्तादुत्तरस्य ण्यन्ताद् यो विहितः कृत्प्रत्ययस्तत्स्थस्याजुत्तरस्य नकारस्य विभाषा णकारादेशो भवति॥ *उदा०*—प्रयापणम्, प्रयापनम्। परियापणम्, परियापनम्। प्रयाप्यमाणम्। प्रयाप्यमानम्। प्रयापणीयम्, प्रयापनीयम्। अप्रयाणिः, अप्रयानिः। प्रयापिणौ, प्रयापिनौ॥

भाषार्थः—उपसर्ग में स्थित निमित्त से उत्तर [*णेः*] ण्यन्त धातु से विहित जो कृत् प्रत्यय उसमें स्थित जो अच् से उत्तर नकार उसको [*विभाषा*] विकल्प से णकार आदेश होता है॥ प्र पूर्वक या धातु से णिच् तथा *अर्त्तिह्री०* (७।३।३६) से पुक् आगम होकर यापि ण्यन्त धातु बनी, तत्पश्चात् पूर्वसूत्र अनुसार ही ल्युट् शानच् आदि प्रत्यय हुये, सो प्रयापणम् आदि प्रयोग बन गये। सर्वत्र प्रयापणम् आदि में *णेरनिटि* (६।४।५१) से णि का लोप हुआ हुआ है। प्रयापि यक् मुक् आन = प्र याप् य म् आन = प्रयाप्यमान = प्रयाप्यमाणम्॥

यहाँ से '*विभाषा*' की अनुवृत्ति ८।४।३० तक जायेगी॥

हलश्चेजुपधात् ॥८।४।३०॥

हलः ५।१॥ च अ०॥ इजुपधात् ५।१॥ *स०*—इच् उपधा यस्य स इजुपधस्तस्मात्...बहुव्रीहिः॥ *अनु०*—विभाषा, कृत्यचः, उपसर्गात्,

अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—हलादिर्यो धातुरिजुपधस्तस्मात्परो यः कृत्प्रत्ययस्तत्स्थस्य नकारस्याच उत्तरस्योपसर्गस्थान्निमित्तादुत्तरस्य विभाषा णकारादेशो भवति ॥ उदा०—प्रकोपणम्, परिकोपणम् । प्रकोपनम्, परिकोपनम् ॥

भाषार्थः—[*इजुपधात्*] इच् उपधा वाला जो [*हलः*] हलादि धातु उससे विहित जो कृत् प्रत्यय तत्स्थ जो अच् से उत्तर नकार उसको [*च*] भी उपसर्ग में स्थित निमित्त से उत्तर विकल्प से णकारादेश होता है ॥ कुप क्रोधे धातु हलादि एवं इच् उपधा वाला है, सो उससे विहित कृत् प्रत्यय जो ल्युट् = अन उसके नकार को अच् से उत्तर विकल्प से णकार उदाहरणों में हुआ है ॥ *कृत्यचः* (८।४।२८) से नित्य णत्व प्राप्त था, विकल्पार्थ यह वचन है ॥

यहाँ से '*हलः*' की अनुवृत्ति ८।४।३१ तक जायेगी ॥

इजादेः सनुमः ॥८।४।३१॥

इजादेः ५।१॥ सनुमः ५।१॥ स०—इच् आदिर्यस्य स इजादिस्तस्मात्'''बहुव्रीहिः । नुमा सह सनुम्, तस्मात्'''तृतीयातत्पुरुषः ॥ अनु०—हलः, कृत्यचः, उपसर्गात्, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—उपसर्गस्थान्निमित्तादुत्तरस्य इजादेः सनुमो हलन्ताद्धातोर्विहितो यः कृत्प्रत्ययस्तत्स्थस्याच उत्तरस्य नकारस्य णकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—प्रेङ्खणम्, परेङ्खणम् । प्रेङ्गणम्, परेङ्गणम् । प्रोम्भणम्, परोम्भणम् ॥

भाषार्थः—उपसर्ग में स्थित निमित्त से उत्तर [*इजादेः*] इच् आदि वाला जो [*सनुमः*] नुम् सहित हलन्त धातु उससे विहित जो कृत् प्रत्यय तत्स्थ नकार को अच् से उत्तर णकार आदेश होता है ॥ *कृत्यचः* (८।४।२८) से ही णत्व सिद्ध था, पुनर्वचन नियमार्थ है, अर्थात्—नुम् सहित इजादि धातुओं से उत्तर ही कृत्स्थ न को ण हो, अन्यों से उत्तर नहीं ॥ पूर्व सूत्र में '*हलः*' पद से हलादि अर्थ लिया गया है, किन्तु यहाँ '*इजादेः*' कह देने से हलः में तदन्तविधि (१।१।७१) होकर 'हलन्त' ऐसा सूत्रार्थ हुआ है ॥ इखि तथा इगि धातु से *इदितो नुम्धातोः* (७।१।५८) से नुम् होकर इन्ख् इन्ग् बना । *नश्चाऽपदान्तस्य०* (८।३।२४)

एवं *अनुस्वारस्य०* (८।४।५७) लगकर प्र इङ्ख् अन, प्र इङ्ग् अन = प्रेङ्खणम्, प्रेङ्गणम् बन गया। उन्भ धातु से प्रोम्भणम् आदि बना॥ वस्तुतः नुम् से यहाँ अनुस्वार का उपलक्षण होता है, अतः उन्भ में यद्यपि नुम् नहीं हुआ है, किन्तु पहले से ही नकार पठित है तो भी उस नकार का अनुस्वार में ग्रहण हो जाने से कृत्स्थ नकार को णकार हो जाता है॥

वा निंसनिक्षनिन्दाम् ॥८।४।३२॥

वा अ० ॥ निंसनिक्षनिन्दाम् ६।३॥ स०—निंसश्च निक्षश्च निन्द् च निंस…निन्दस्तेषाम्…इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—कृत्यचः, उपसर्गात्, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम्॥ *अर्थः*—उपसर्गस्थान्निमित्तादुत्तरस्य निंस निक्ष निन्द इत्येतेषां नकारस्य वा णकारादेशो भवति, कृति परतः॥ *उदा०*—प्रणिंसनम्, प्रनिंसनम्। प्रणिक्षणम्, प्रनिक्षणम्। प्रणिन्दनम्, प्रनिन्दनम्॥

भाषार्थः—उपसर्ग में स्थित निमित्त से उत्तर [*निंसनिक्षनिन्दाम्*] निंस, निक्ष तथा निन्द धातु के नकार को [*वा*] विकल्प से णकारादेश होता है, कृत् परे रहते॥ णिसि चुम्बने, (अदा०) णिक्ष चुम्बने तथा णिदि कुत्सायाम् धातु से निस्, निक्ष्, एवं निन्द् बनकर आगे ल्युट् प्रत्यय हुआ है। *णो नः* (६।१।६३) से पहले ण् को न् एवं इदित् को नुम् होकर निंस् निन्द् बना है। प्र निंस् अन = प्रणिंसनम् पूर्ववत् नुम् को अनुस्वार होकर बन गया॥ णिसि आदि के णोपदेश धातु होने से *उपसर्गादस०* (८।४।१४) से नित्य णत्व प्राप्त था, विकल्पार्थ यह वचन है॥

न भाभूपूकमिगमिप्यायीवेपाम् ॥८।४।३३॥

न अ० ॥ भाभू…वेपाम् ६।३॥ स०—भाश्च भूश्च पूश्च कमिश्च गमिश्च प्यायीश्च वेप् च भाभू…वेपस्तेषाम्…इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—कृत्यचः, उपसर्गात्, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम्॥ *अर्थः*—उपसर्गस्थान्निमित्तादुत्तरस्य भा भू पू कमि गमि प्यायी वेप इत्येतेभ्यो विहितो यो कृत्स्थस्य नकारस्तस्याज्उत्तरस्य णकारादेशो न भवति॥ *उदा०*—भा-प्रभानम्, परिभानम्। भू-प्रभवनम्,

परिभवनम् । पूञ्-प्रपवनम्, परिपवनम् । कमि-प्रकमनम्, परिकमनम् । गमि-प्रगमनम्, परिगमनम् । प्यायी-प्रप्यायनम्, परिप्यायनम् । वेप-प्रवेपनम्, परिवेपनम् ॥

भाषार्थः—उपसर्ग में स्थित निमित्त से उत्तर [*भाभू⋯वेपाम्*] भा, भू, पूञ्, कमि, गमि, ओप्यायी तथा वेप जो धातु इनसे विहित कृत्स्थ नकार को अच् से उत्तर णकार आदेश [*न*] नहीं होता ॥ *कृत्यचः* (८।४।२८) से णत्व की प्राप्ति थी, निषेध कर दिया ॥

यहाँ से 'न' की अनुवृत्ति ८।४।३८ तक जायेगी ॥

षात्पदान्तात् ॥८।४।३४॥

षात् ५।१॥ पदान्तात् ५।१॥ *स०*—पदे अन्तः पदान्तस्तस्मात्⋯ सप्तमीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—न, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—षकारात्पदान्तादुत्तरस्य णकारादेशो न भवति ॥ *उदा०*—निष्पानम्, दुष्पानम् । सर्पिष्पानम्, यजुष्पानम् ॥

भाषार्थः—[*पदान्तात्*] पदान्त [*षात्*] षकार से उत्तर नकार को णकार आदेश नहीं होता ॥ निस् दुस् के स् को विसर्जनीय करके तत्पश्चात् उस विसर्जनीय को *इदुदुपधस्य०* (८।३।४१) से षत्व हुआ है, सो षकारान्त पद बन गया, इस प्रकार *कृत्यचः* (८।४।२८) से णत्व की प्राप्ति थी निषेध कर दिया । सर्पिष्पानम्, यजुष्पानम् में *नित्यं समासे०* (८।३।४५) से षत्व हुआ है । यहाँ *वा भावकरणयोः* (८।४।१०) से णत्व की प्राप्ति थी, निषेध कर दिया । 'सर्पिष्पानम्' में षष्ठी समास एवं 'यजुष्पानम्' में *कर्तृकरणे कृता०* (२।१।३१) से तृतीयासमास हुआ है ॥

नशेः षान्तस्य ॥८।४।३५॥

नशेः ६।१॥ षान्तस्य ६।१॥ *स०*—ष् अन्ते यस्य स षान्तस्तस्य⋯ बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—न, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—षकारान्तस्य नशेः णकारादेशो न भवति ॥ *उदा०*—प्रनष्टः, परिनष्टः ॥

भाषार्थः—[*षान्तस्य*] षकारान्त [*नशेः*] नश धातु के नकार को णकारादेश नहीं होता ॥ णश अदर्शने धातु से निष्ठा में *मस्जिनशोर्झलि* (७।१।६०) से नुम् होकर प्र न नुम् श् त रहा । *व्रश्चभ्रस्ज०* (८।२।३६)

से श् को ष् होकर प्र न न् ष् त रहा, *अनिदितां०* (६।४।२४) से नकार लोप तथा ष्टुत्व होकर प्रनष्टः बन गया ।। *उपसर्गादस०* (८।४।१४) से णत्व प्राप्ति थी, निषेध कर दिया ।।

पदान्तस्य ।।८।४।३६।।

पदान्तस्य ६।१।। *स०*—पदस्य अन्तः पदान्तस्तस्य ... षष्ठीतत्पुरुषः ।। *अनु०*—न, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् ।। *अर्थः*—पदान्तस्य नकारस्य णकारादेशो न भवति ।। *उदा०*—वृक्षान्, प्लक्षान्, अरीन्, गिरीन् ।।

भाषार्थः—[*पदान्तस्य*] पद के अन्त के नकार को णकार आदेश नहीं होता है ।। *अट्कुप्वाङ्०* (८।४।२) से णत्व प्राप्ति थी, निषेध कर दिया ।।

पदव्यवायेऽपि ।।८।४।३७।।

पदव्यवाये ७।१।। अपि अ० ।। *स०*—पदेन व्यवायः पदव्यवायस्तस्मिन् ... तृतीयातत्पुरुषः ।। *अनु०*—न, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् ।। *अर्थः*—पदव्यवायेऽपि सति नकारस्य णकारादेशो न भवति ।। *उदा०*—माषकुम्भवापेन, चतुरङ्गयोगेन, प्रावनद्धम्, पर्यवनद्धम्, प्रगान्नयामः, परिगान्नयामः ।।

भाषार्थः—[*पदव्यवाये*] पद का व्यवधान होने पर [*अपि*] भी नकार को णकार नहीं होता ।। अभिप्राय यह है कि निमित्त एवं निमित्ती के मध्य में किसी पद का व्यवधान होने पर णत्व न होवे ।। माषाणां कुम्भः माषकुम्भः, तं वपतीति माषकुम्भवापस्तेन माषकुम्भवापेन यहाँ *कर्मण्यण्* (३।२।१) से अण् प्रत्यय होकर तृतीया का 'टा' हुआ है, सो *प्रातिपदिकान्त०* (८।४।११) से (कुम्भ के *अट्कुप्वाङ्०* में गृहीत होने से) विभक्ति के न् को णत्व प्राप्त था, कुम्भ पद का व्यवधान होने से निषेध हो गया। चत्वारि अङ्गानि अस्य = चतुरङ्गस्तेन योगः चतुरङ्गयोगस्तेन चतुरङ्गयोगेन यहाँ *कुमति च* (८।४।१३) से प्राप्ति थी, अङ्ग पद का व्यवधान होने से नहीं हुआ। नद्धम् की सिद्धि ८।२।३४ सूत्र में देखें, तद्वत् प्र अव नद्धम् = प्रावनद्धम् में गतिसमास (२।२।१८) होकर *उपसर्गाद०* (८।४।१४) से णत्व प्राप्ति थी, 'अव' पद का व्यवधान होने से निषेध हो गया। प्रगान्नयामः यहाँ प्र निमित्त एवं

नयामः के न् निमित्ति के मध्य में गाम् द्वितीयान्त पद का व्यवधान है, सो उपसर्गाद० (८।४।१४) से जो णत्व प्राप्त था, निषेध हो गया। यह छान्दस उदाहरण है। गाम् के म् को अनुस्वार एवं परसवर्ण पूर्ववत् यहाँ हो जायेगा ॥

क्षुभ्नादिषु च ॥८।४।२८॥

क्षुभ्नादिषु ७।३॥ च अ० ॥ *स०*—क्षुभ्ना आदिर्येषां ते क्षुभ्नादयस्तेषु...बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—न, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—क्षुभ्ना इत्येवमादिषु शब्देषु नकारस्य णकारादेशो न भवति ॥ *उदा०*—क्षुभ्नाति, क्षुभ्नीतः, क्षुभ्नन्ति। नॄन् = मनुष्यान् नयतीति नृनमनः ॥

भाषार्थः—[क्षुभ्नादिषु] क्षुभ्नादि गण में पठित शब्दों के नकार को [च] भी णकारादेश नहीं होता ॥ *रषाभ्यां नो णः०* (८।४।१) इत्यादि सूत्रों से प्राप्ति थी, प्रतिषेध कर दिया ॥ क्षुभ्नाति क्षुभ्नीतः आदि में *अट्कुप्वाङ्०* (८।४।२) से प्राप्ति थी, एवं नृनमनः में *पूर्वपदात्०* (८।४।३) अथवा छन्दस्यृद० (८।४।२५) से णत्व प्राप्त था, प्रतिषेध कर दिया ॥ क्षुभ्नीतः में *ई हल्यघोः* (६।४।११३) से श्ना को ईत्व एवं क्षुभ्नन्ति में *श्नाभ्यस्त०* (६।४।११२) से श्ना के आ का लोप हुआ है ॥

स्तोः श्चुना श्चुः ॥८।४।३९॥

स्तोः ६।१॥ श्चुना ३।१॥ श्चुः १।१॥ *स०*—सश्च तुश्च स्तुस्तस्य... समाहारद्वन्द्वः। शश्च चुश्च श्चुस्तेन...समाहारद्वन्द्वः। एवं 'श्चुः' इत्यत्रापि ज्ञेयम् ॥ *अनु०*—संहितायाम् ॥ *अर्थः*—सकारतवर्गयोः शकारचवर्गाभ्यां योगे शकारचवर्गौ आदेशौ भवतः ॥ *उदा०*—सकारस्य शकारेण—वृक्षस्शेते = वृक्षश्शेते, प्लक्षश्शेते। सकारस्य चवर्गेण—वृक्षस्चिनोति = वृक्षश्चिनोति, प्लक्षश्चिनोति। वृक्षस्छादयति = वृक्षश्छादयति, प्लक्षश्छादयति। तवर्गस्य शकारेण—अग्निचित् शेते = अग्निचिच्छेते, सोमसुच्छेते। तवर्गस्य चकारेण—अग्निचिच्चिनोति, सोमसुच्चिनोति। अग्निचिच्छादयति, सोमसुच्छादयति। अग्निचिज्जयति, सोमसुज्जयति। अग्निचिज्झकारः, सोमसुज्झकारः। अग्निचिञ्ञकारः। सोमसुञ्ञकारः। मस्जेः—मज्जति। भ्रस्जेः—भृज्जति। यजेः—यज्ञः। याचेः—याच्ञा ॥

भाषार्थः—[*श्चुना*] शकार और चवर्ग के योग में [*स्तोः*] सकार और तवर्ग के स्थान में [*श्चुः*] शकार और चवर्ग आदेश होते हैं ॥ यथासंख्य यहाँ इष्ट नहीं है, अतः सकार को शकार अथवा चवर्ग दोनों के योग में शकार हो जाता है। यथा—वृक्षश्शेते एवं वृक्षश्चिनोति आदि में दिखाया है। तवर्ग को भी शकार एवं चवर्ग दोनों के योग में चवर्ग हो जाता है। यथा—अग्निचित् शेते = अग्निचिच्छेते, एवं अग्निचिच्चिनोति आदि में है। *शश्छोऽटि* (८।४।६२) से अग्निचिच्छेते में श् को छ् भी हुआ है। मज्जति भृज्जति आदि में *झलां जश्०* (८।४।५२) से स् को द् एवं प्रकृत सूत्र से द् को ज् हुआ है। यज्ञः, याच्ञा में *यजयाच०* (३।३।६०) से नङ् हुआ है, सो ज् के योग में न् तवर्गीय वर्ण को चवर्ग अर्थात् ञ् हो गया है॥ यहाँ यह समझ लेना चाहिये कि 'श्चुना' कहने से शकार एवं चवर्ग का सकार एवं तवर्ग के साथ पूर्व से अथवा पर से अर्थात् शकार चवर्ग सकार तवर्ग के पूर्व में हों अथवा पर में, सकार तवर्ग को शकार एवं चवर्ग हो जायेगा। यज्ञः याच्ञा में चवर्ग का तवर्ग के साथ पूर्व से योग है। सकार को शकार एवं तवर्ग को चवर्ग आदेश यथासङ्ख्य करके होते हैं, जैसा कि हमने अग्निचिच्चिनोति आदि उदाहरणों में दिखाया है॥ अग्निचिज्झकारम् में पहले त् को श्चुत्व च् हुआ पुनः *झलां जशोऽन्ते* (८।२।३९) से ज् हुआ अथवा पहले त् को जश्त्व द् करके श्चुत्व होकर द् को ज् होगा॥

यहाँ से '*स्तोः*' की अनुवृत्ति ८।४।४१ तक जायेगी॥

ष्टुना ष्टुः ॥८।४।४०॥

ष्टुना ३।१॥ ष्टुः १।१॥ *स०*—षश्च टुश्च ष्टुस्तेन ' 'समाहारद्वन्द्वः॥ *अनु०*—स्तोः, संहितायाम्॥ *अर्थः*—सकारतवर्गयोः षकारटवर्गाभ्यां योगे षकारटवर्गौ आदेशौ भवतः॥ *उदा०*—षकारेण सकारस्य—वृक्षस्षण्डे = वृक्षष्षण्डे, प्लक्षष्षण्डे। सकारस्य टवर्गेण—वृक्षस् टीकते = वृक्षष्टीकते, प्लक्षष्टीकते। वृक्षष्ठकारः, प्लक्षष्ठकारः। तवर्गस्य षकारेण—पेष्टा, पेष्टुम्, पेष्टव्यम्। कृषीष्ट, कृषीष्ठाः। तवर्गस्य टवर्गेण—अग्निचिट्टीकते, सोमसुट्टीकते। अग्निचिट्ठकारः, सोमसुट्ठकारः। अग्निचिड्डीनः, सोमसुड्डीनः। अग्निचिड्ढौकते, सोमसुड्ढौकते। अग्निचिण्णकारः, सोमसुण्णकारः। अतट्टति = अट्टति। अदड्डति = अड्डति॥

भाषार्थः—[*ष्टुना*] षकार और टवर्ग के योग में सकार और तवर्ग के स्थान में [*ष्टुः*] षकार और टवर्ग आदेश हो जाते हैं ।। पूर्ववत् यहाँ भी संख्यातानुदेश इष्ट नहीं है, अतः सकार को षकार एवं टवर्ग दोनों के योग में ष् होता है । यथा—वृक्षष्षण्डे में है । तवर्ग को भी षकार एवं टवर्ग दोनों के योग में टवर्ग आदेश होता है । यथा—पेष्टा, पेष्टुम् आदि में है ।। इस सूत्र की सम्पूर्ण व्याख्या पूर्व सूत्रानुसार जानें ।।

यहाँ से 'ष्टुः' की अनुवृत्ति ८।४।४१ तक जायेगी ।।

न पदान्ताट्टोरनाम् ।।८।४।४१।।

न अ० ।। पदान्तात् ५।१।। टोः ५।१।। अनाम् लुप्तषष्ठ्यन्तनिर्देशः ।। *स०*—पदस्य अन्तः पदान्तस्तस्मात्...षष्ठीतत्पुरुषः । न नाम् अनाम् नञ्तत्पुरुषः ।। *अनु०*—ष्टुः, स्तोः, संहितायाम् ।। *अर्थः*—पदान्ताट्टवर्गादुत्तरस्य स्तोः ष्टुत्वं न भवति नामित्येतद् वर्जयित्वा ।। *उदा०*—श्वलिट् साये, मधुलिट् तरति ।।

भाषार्थः—[*पदान्तात्*] पदान्त [*टोः*] टवर्ग से उत्तर सकार और तवर्ग को षकार और टवर्ग [*न*] नहीं होता, [*अनाम्*] 'नाम्' को छोड़ कर ।। श्वलिट्, मधुलिट् के पदान्त में टकार है, सो उससे उत्तर त् को ष्टुत्व ट् नहीं हुआ ।।

यहाँ से 'न' की अनुवृत्ति ८।४।४३ तक जायेगी ।।

तोः षि ।।८।४।४२।।

तोः ६।१।। षि ७।१।। *अनु०*—न, संहितायाम् ।। *अर्थः*—तवर्गस्य षकारे परतो यदुक्तं तन्न भवति ।। *उदा०*—अग्निचित्षण्डे, भवान् षण्डे, महान् षण्डे ।।

भाषार्थः—[*तोः*] तवर्ग को [*षि*] षकार परे रहते जो कुछ भी कहा है, वह नहीं होता, अर्थात् ष्टुत्व नहीं होता ।।

यहाँ से '*तोः*' की अनुवृत्ति ८।४।४३ तक जायेगी ।।

शात् ।।८।४।४३।।

शात् ५।१।। *अनु०*—तोः, न, संहितायाम् ।। *अर्थः*—शकारादुत्तरस्य [illegible] विश्नः ।।

भाषार्थः—[*शात्*] शकार से उत्तर तवर्ग को जो कुछ भी कहा है वह नहीं होता, अर्थात् *स्तोः श्चुना०* (८।४।३९) से प्राप्त श्चुत्व नहीं होता अन्यथा 'प्रश्न्रः' अशुद्ध रूप बनता ॥ सिद्धि ३।३।९० सूत्र में देखें ॥

यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा ॥८।४।४४॥

यरः ६।१॥ अनुनासिके ७।१॥ अनुनासिकः १।१॥ वा अ० ॥ *अनु०*—संहितायाम् । *न पदान्ता०* (८।४।४१) इत्यतः 'पदान्तात्' इत्यप्यनुवर्त्तते मण्डूकप्लुतगत्या ॥ *अर्थः*—पदान्तस्य यरोऽनुनासिके परतो वाऽनुनासिकादेशो भवति ॥ *उदा०*—वाङ्नयति, वाग् नयति । श्वलिण् नयति, श्वलिड् नयति । अग्निचिन्नयति, अग्निचिद् नयति । त्रिष्टुम्नयति, त्रिष्टुब् नयति ॥

भाषार्थः—पदान्त [*यरः*] यर् (प्रत्याहार) को [*अनुनासिके*] अनुनासिक परे रहते [*वा*] विकल्प से [*अनुनासिकः*] अनुनासिक आदेश होता है ॥ उदाहरणों में नयति का न् अनुनासिक परे है, अतः ग्, ड् आदि यरों को अन्तरतम (१।१।४९) अनुनासिक आदेश विकल्प से हो गया है ॥

यहाँ से '*यरो वा*' की अनुवृत्ति ८।४।४६ तक जायेगी ॥

अचो रहाभ्यां द्वे ॥८।४।४५॥

अचः ५।१॥ रहाभ्याम् ५।२॥ द्वे १।२॥ *स०*—रश्च हश्च रहौ, ताभ्याम् ''इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—यरो वा, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—अच उत्तरौ यौ रेफहकारौ ताभ्यामुत्तरस्य यरो द्वे वा भवतः ॥ *उदा०*—अर्कः, अर्क्कः । मर्क्कः, मर्कः । ब्रह्मा, ब्रह्म्मा । अपह्नुते, अपह्न्नुते ॥

भाषार्थः—[*अचः*] अच् से उत्तर जो [*रहाभ्याम्*] रेफ और हकार उससे उत्तर यर् को विकल्प से [*द्वे*] द्वित्व होता है ॥ अर्कः यहाँ अच् से उत्तर रेफ है, उससे उत्तर क् यर् को द्वित्व हुआ है, इसी प्रकार अन्यों में जानें । अपह्नुते यहाँ हकार से उत्तर यर् है ॥

यहाँ से '*अचः*' की अनुवृत्ति ८।४।४६ तक एवं '*द्वे*' की ८।४।५१ तक जायेगी ॥

अनचि च ॥८।४।४६॥

अनचि ७।१॥ च अ० ॥ स०—न अच् अनच् तस्मिन्'''नञ्-तत्पुरुषः ॥ अनु०—अचो द्वे, यरो वा, संहितायाम् ॥ अर्थः—अच उत्तरस्य यरो वा द्वे भवतोऽनचि परतः ॥ उदा०—दद्ध्यत्र, मद्ध्वत्र ॥

भाषार्थः—अच् से उत्तर यर् को विकल्प करके [*अनचि*] अच् परे न हो तो [*च*] भी द्वित्व हो जाता है ॥ सिद्धि परि० १।१।५७ में देखें । यहाँ अनच् 'य्' परे रहते 'ध्' यर् को द्वित्व हुआ है ॥

नादिन्याक्रोशे पुत्रस्य ॥८।४।४७॥

न अ० ॥ आदिनी लुप्तसप्तम्यन्तनिर्देशः ॥ आक्रोशे ७।१॥ पुत्रस्य ६।१॥ अनु०—द्वे, संहितायाम् ॥ अर्थः—आक्रोशे गम्यमाने आदिनी परतः पुत्रशब्दस्य द्वे न भवतः ॥ उदा०—पुत्रानत्तु शीलमस्याः पुत्रादिनी त्वमसि पापे ॥

भाषार्थः—[*आक्रोशे*] आक्रोश गम्यमान हो तो [*आदिनी*] आदिनी शब्द परे रहते [*पुत्रस्य*] पुत्र शब्द को द्वित्व [*न*] नहीं होता ॥ ताच्छील्य अर्थ में णिनि होकर आदिन् रहा, पश्चात् ङीप् होकर आदिनी बना है ॥ पूर्व सूत्र से प्राप्ति थी, निषेध कर दिया है ॥

यहाँ से 'न' की अनुवृत्ति ८।४।५१ तक जायेगी ॥

शरोऽचि ॥८।४।४८॥

शरः ५।१॥ अचि ७।१॥ अनु०—न, द्वे, संहितायाम् ॥ अर्थः—अचि परतः शरो न द्वे भवतः ॥ उदा०—कर्षति, वर्षति, आकर्षः, आदर्शः ॥

भाषार्थः—[*अचि*] अच् परे रहते [*शरः*] शर् (प्रत्याहार) को द्वित्व नहीं होता ॥ *अचो रहाभ्यां द्वे* से प्राप्ति थी, प्रतिषेध कर दिया ॥ आकर्षः आदर्शः में अधिकरण में घञ् हुआ है ॥

त्रिप्रभृतिषु शाकटायनस्य ॥८।४।४९॥

त्रिप्रभृतिषु ७।३॥ शाकटायनस्य ६।१॥ स०—त्रयः प्रभृतयः त्रिप्रभृतयस्तेषु'''कर्मधारयतत्पुरुषः ॥ अनु०—न, द्वे, संहितायाम् ॥ अर्थः—त्रिप्रभृतिषु संयुक्तेषु वर्णेषु शाकटायनस्याचार्यस्य मतेन द्वित्वं न भवति ॥ उदा०—इन्द्रः, चन्द्रः, उष्ट्रः, राष्ट्रम्, भ्राष्ट्रम् ॥

भाषार्थः—[*त्रिप्रभृतिषु*] तीन मिले हुये = संयुक्त वर्णों को [*शाकटायनस्य*] शाकटायन आचार्य के मत में द्वित्व नहीं होता ॥ इन्द्र में न् द् र् तीन संयुक्त वर्ण हैं, इसी प्रकार अन्यों में भी समझें। इन्द्र आदि शब्दों में *अनचि च* से द्वित्व प्राप्ति थी निषेध हो गया ॥ शाकटायन ग्रहण पूजार्थ है ॥

सर्वत्र शाकल्यस्य ॥८।४।५०॥

सर्वत्र अ० ॥ शाकल्यस्य ६।१॥ *अनु०*—न, द्वे, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—शाकल्यस्याचार्यस्य मतेन सर्वत्र द्वित्वं न भवति ॥ *उदा०*—अर्कः, मर्कः, ब्रह्मा, अपह्नुते ॥

भाषार्थः—[*शाकल्यस्य*] शाकल्य आचार्य के मत में [*सर्वत्र*] सर्वत्र अर्थात् त्रिप्रभृति अथवा अत्रिप्रभृति सर्वत्र द्वित्व नहीं होता ॥ अर्कः इत्यादि में *अचो रहाभ्यां द्वे* से द्वित्व प्राप्ति थी, प्रतिषेध हो गया ॥

दीर्घादाचार्याणाम् ॥८।४।५१॥

दीर्घात् ५।१॥ आचार्याणाम् ६।३॥ *अनु०*— न, द्वे, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—दीर्घादुत्तरस्याचार्याणां मतेन द्वित्वं न भवति ॥ *उदा०*—दात्रम्, पात्रम्, सूत्रम्, मूत्रम् ॥

भाषार्थः—[*दीर्घात्*] दीर्घ से उत्तर [*आचार्याणाम्*] सभी आचार्यों के मत में द्वित्व नहीं होता ॥ दात्रम् आदि में *अनचि च* से द्वित्व प्राप्ति थी, निषेध हो गया ॥

झलां जश् झशि ॥८।४।५२॥

झलाम् ६।३॥ जश् १।१॥ झशि ७।१॥ अनु०—संहितायाम् ॥ *अर्थः*—झलां स्थाने जश् आदेशो भवति झशि परतः ॥ *उदा०*—लब्धा, लब्धुम्, लब्धव्यम्। दोग्धा, दोग्धुम्, दोग्धव्यम्। बोद्धा, बोद्धुम्, बोद्धव्यम् ॥

भाषार्थः—[*झलाम्*] झलों के स्थान में [*झशि*] झश् परे रहते [*जश्*] जश् आदेश होता है ॥ लब्धा में लभ् के भ् को ब् जश्त्व हुआ है, शेष धत्वादि (८।२।४०) हो ही जायेंगे। दोग्धा में दुह् को *दादेर्घातोर्घः* (८।२।३२) से ह् को घ् होकर पश्चात् घ् को ग् जश्त्व हुआ है ॥

यहाँ से 'झलाम्' की अनुवृत्ति ८।४।५५ तक तथा 'जश्' की ८।४।५३ तक जायेगी ॥

अभ्यासे चर्च ॥८।४।५३॥

अभ्यासे ७।१॥ चर् १।१॥ च अ० ॥ अनु०—झलाम्, जश्, संहितायाम् ॥ अर्थः—अभ्यासे वर्त्तमानानां झलां चर् आदेशो भवति चकारात् जश् च ॥ उदा०—चिखनिषति, चिच्छित्सति, टिठकारयिषति, तिष्ठासति, पिफकारयिषति । जश्–बुभूषति, जिघत्सति, डुढौकिषते ॥

भाषार्थः—[अभ्यासे] अभ्यास में वर्त्तमान झलों को [चर्] चर् आदेश होता है, तथा चकार से जश् [च] भी होता है ॥ चिखनिषति में खन धातु से सन् आकर द्वित्वादि होकर 'ख खनिष' रहा । कुहोश्चुः (७।४।६२) से अभ्यास को चुत्व छ् होकर पश्चात् उस छ् को प्रकृत सूत्र से च् हो गया है । छिद् से चिच्छित्सति छे च (६।१।७१) से तुक् आगम एवं श्चुत्व होकर बना है । ठकार एवं फकार से पटयति (दे० परि० १।१।५६) के समान णिच् प्रत्यय आकर एवं टिलोप होकर ठकारय् फकारय् धातु बनें । पश्चात् सन् इट् तथा 'ठ ठकारयिष' 'फ फकारयिष द्वित्व एवं प्रकृत सूत्र से चर् होकर टिठकारयिषति, पिफकारयिषति बन गया । तिष्ठासति में शर्पूर्वाः खयः (७।४।६१) से अभ्यास का खय् शेष रहा है । बुभूषति आदि में अभ्यास को जश् हुआ है । जिघत्सति की सिद्धि परि २।४।३७ में देखें । डुढौकिषते ढौकृ धातु से अभ्यास को ह्रस्वः (७।४।५९) से ह्रस्व होकर बना है ॥ स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४९) के नियम से वर्ग के प्रथम द्वितीय वर्ण के स्थान में चर् उस वर्ग का प्रथम और तृतीय चतुर्थ वर्ण के स्थान में जश् अर्थात् तृतीय आदेश होता है ॥

यहाँ से 'चर्' की अनुवृत्ति ८।४।५५ तक जायेगी ॥

खरि च ॥८।४।५४॥

खरि ७।१॥ च अ० ॥ अनु०—चर्, झलाम्, संहितायाम् ॥ अर्थः—खरि परतो झलां चर् आदेशो भवति ॥ उदा०—भेत्ता, भेत्तुम्, भेत्तव्यम्, युयुत्सते, आरिप्सते, आलिप्सते ॥

भाषार्थः—[खरि] खर् परे रहते [च] भी झलों को चर् आदेश

होता है ॥ भेत्ता आदि में द् को त् एवं युयुत्सते में ध् को त् तथा आरिप्सते, आलिप्सते में भ् को प् चर् हुआ है । आरिप्सते आलिप्सते की सिद्धि ७।४।५४ सूत्र में देखें ॥

वावसाने ॥८।४।५५॥

वा अ० ॥ अवसाने ७।१॥ *अनु०*—चर्, झलाम्, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—अवसाने वर्त्तमानानां झलां वा चर् आदेशो भवति ॥ *उदा०*—वाच्–वाक्, वाग् । त्वच्–त्वक्, त्वग् । श्वलिड्–श्वलिट्, श्वलिड् । त्रिष्टुभ्–त्रिष्टुप्, त्रिष्टुब् ॥

भाषार्थः—[*अवसाने*] अवसान में वर्त्तमान झलों को [*वा*] विकल्प करके चर् आदेश होता है ॥ जब पक्ष में चर् नहीं होगा तो *झलां जशोऽन्ते* (८।२।३९) से हुआ जश् ही रहेगा । वाक् की सिद्धि परि० १।२।४१ में देखें । तद्वत् अन्य सिद्धियाँ हैं ॥

यहाँ से '*वावसाने*' की अनुवृत्ति ८।४।५६ तक जायेगी ॥

अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः ॥८।४।५६॥

अणः ६।१॥ अप्रगृह्यस्य ६।१॥ अनुनासिकः १।१॥ *स०*—न प्रगृह्यम् अप्रगृह्यम् तस्य''नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—वावसाने, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—अप्रगृह्यसंज्ञकस्याऽणोऽवसाने वर्त्तमानस्य वाऽनुनासिकादेशो भवति ॥ *उदा०*—दधि, दधिँ । मधु, मधुँ । कुमारी, कुमारीँ ॥

भाषार्थः—अवसान में वर्त्तमान [*अप्रगृह्यस्य*] प्रगृह्यसंज्ञक से भिन्न [*अणः*] अण् को विकल्प से [*अनुनासिकः*] अनुनासिक आदेश होता है ॥ अण् से यहाँ पूर्व णकार (अइउण् वाला) से ग्रहण है । दधि, मधु के सु का *स्वमोर्नपुंसकात्* (७।१।२३) से लुक् हुआ है ॥

अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः ॥८।४।५७॥

अनुस्वारस्य ६।१॥ ययि ७।१॥ परसवर्णः १।१॥ *स०*—परस्य सवर्णः परसवर्णः, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—संहितायाम् ॥ *अर्थः*—अनुस्वारस्य ययि परतः परसवर्णादेशो भवति ॥ *उदा०*—शङ्किता, शङ्कितुम्, शङ्कितव्यम् । उञ्छिता, उञ्छितुम्, उञ्छितव्यम् । कुण्डिता, कुण्डितुम्,

कुण्डितव्यम् । नन्दिता, नन्दितुम्, नन्दितव्यम् । कम्पिता, कम्पितुम्, कम्पितव्यम् ॥

भाषार्थः—[*अनुस्वारस्य*] अनुस्वार को [*यथि*] यय् (प्रत्याहार) परे रहते [*परसवर्णः*] परसवर्ण (अर्थात् परे जो वर्ण हो उसका सवर्णीय वर्ण) आदेश होता है ॥ शकि, उछि, कुडि, टुनदि, कपि ये सभी धातुएं इदित् हैं, अतः *इदितो नुम्धातोः* (७।१।५८) से इन्हें नुम् आगम होकर न् को *नश्चाऽप०* (८।३।२४) से अनुस्वार हो गया, पश्चात् प्रकृत सूत्र से अनुस्वार को परसवर्ण आदेश होने से शङ्किता में क् का पर सवर्णीय ङ्, उञ्छिता में छ् का परसवर्णीय ञ्, कुण्डिता में ड् का परसवर्णीय ण् एवं नन्दिता, कम्पिता में इसी प्रकार न्, म् परसवर्ण आदेश हो गये हैं ॥

यहाँ से '*अनुस्वारस्य यथि*' की अनुवृत्ति ८।४।५८ तक तथा '*पर*' की ८।४।५९ एवं '*सवर्णः*' की ८।४।६१ तक जायेगी ॥

वा पदान्तस्य ॥८।४।५८॥

वा अ० ॥ पदान्तस्य ६।१॥ *स०*—पदस्य अन्तः पदान्तस्तस्य··· षष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—अनुस्वारस्य यथि परसवर्णः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—पदान्तस्यानुस्वारस्य यथि परतो वा परसवर्णादेशो भवति ॥ *उदा०*—तङ्कथञ्चित्रपक्षण्डयमानन्नभःस्थम्पुरुषोऽवधीत् । पक्षे—तं कथं चित्रपक्षं डयमानं नभःस्थं पुरुषोऽवधीत् ॥

भाषार्थः—[*पदान्तस्य*] पदान्त के अनुस्वार को यय् परे रहते [*वा*] विकल्प से परसवर्णादेश होता है ॥ पूर्व सूत्र से नित्य प्राप्ति थी, विकल्प कर दिया ॥ *मोऽनुस्वारः* (८।३।२३) से पदान्त म् को अनुस्वार उदाहरणों में सर्वत्र हुआ है ॥

तोर्लि ॥८।४।५९॥

तोः ६।१॥ लि ७।१॥ *अनु०*—परसवर्णः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—तवर्गस्य लकारे परतः परसवर्णादेशो भवति ॥ *उदा०*—अग्निचिल्लुनाति, सोमसुल्लुनाति । भवाँल्लुनाति, महाँल्लुनाति ॥

भाषार्थः—[*तोः*] तवर्ग के स्थान में [*लि*] लकार परे रहते, परसवर्ण आदेश होता है ॥ अग्निचिल्लुनाति में त् को परसवर्ण शुद्ध ल् एवं

भवाँल्लुनाति में न् को परसवर्ण *स्थानेऽन्तरतमः* (१।१।४९) से सानुनासिक[1] ल् होता है, अतः 'भवाँल्लुनाति' ऐसा होता है ॥

उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य ॥८।४।६०॥

उदः ५।१॥ स्थास्तम्भोः ६।२॥ पूर्वस्य ६।१॥ *स०*—स्थाश्च स्तम्भ् च स्थास्तम्भौ, तयोः'''इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—सवर्णः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—उद उत्तरयोः स्था स्तम्भ इत्येतयोः पूर्वसवर्णादेशो भवति ॥ *उदा०*—स्था—उत्थाता, उत्थातुम्, उत्थातव्यम्। स्तम्भेः—उत्तम्भिता, उत्तम्भितुम्, उत्तम्भितव्यम् ॥

भाषार्थः—[*उदः*] उत् उपसर्ग से उत्तर [*स्थास्तम्भोः*] स्था तथा स्तम्भ को [*पूर्वस्य*] पूर्वसवर्ण आदेश होता है ॥ *आदेः परस्य* (१।१।५३) से स्था तथा स्तम्भ के सकार को पूर्वसवर्ण होगा, सो अघोष[2] तथा महाप्राण प्रयत्न वाले सकार का अन्तरतम अर्थात् उसी प्रयत्न वाला थकार पूर्वसवर्ण हो गया, तो उत् थ् थाता = उत्थ्थाता रहा। *झरो झरि सवर्णे* (८।४।६४) से पक्ष में एक थकार का लोप हो गया तो उत्थाता बना। पक्ष में जब थकार का लोप नहीं होगा तो उत्थ्थाता[3] बनेगा। इसी प्रकार उत्तम्भिता, उत्त्तम्भिता रूप भी बनेंगे ॥

यहाँ से 'पूर्वस्य' की अनुवृत्ति ८।४।६१ तक जायेगी ॥

झयो होऽन्यतरस्याम् ॥८।४।६१॥

झयः ५।१॥ हः ६।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ *अनु०*—पूर्वस्य, सवर्णः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—झय उत्तरस्य हकारस्य पूर्वसवर्णादेशो भवति

---

१. अन्तस्थ अर्थात् य, ल, व सानुनासिक एवं निरनुनासिक के भेद से दो प्रकार के होते हैं। देखो वर्णो० ७५, पृ० १६। इसीलिये निरनुनासिक एवं सानुनासिक दो प्रकार का ल् यहाँ इष्ट है ॥

२. देखो वर्णो० ६१, ६२ पृ० १४ ॥

३. कई आचार्य बाह्य प्रयत्न की साम्यता की उपेक्षा करके तकार का पूर्व सवर्णीय तकार ही करते हैं उनके मत में उत्त्थाता उत्त्तम्भिता रूप बनता है। थकार पक्ष में पूर्वसवर्ण के असिद्ध होने से चर्त्व नहीं होता ॥

विकल्पेन ।। उदा०—वाग्हसति, वाग्घसति । श्वलिड्हसति, श्वलिड्ढसति । अग्निचिद्हसति, अग्निचिद्धसति । सोमसुद्हसति, सोमसुद्धसति । त्रिष्टुब्हसति, त्रिष्टब्भसति ।।

भाषार्थः—[*झयः*] झय्, (प्रत्याहार) से उत्तर [*हः*] हकार को [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प से पूर्वसवर्ण आदेश होता है ।। सर्वत्र *स्थानेऽन्तरतमः* (१।१।४९) से अन्तरतम पूर्वसवर्ण होगा, और यह आन्तर्य वर्णोच्चारणशिक्षा में उल्लिखित स्थान और प्रयत्न के अनुसार होता है, अर्थात् जिस वर्ण का जिस वर्ण के साथ स्थान, एवं प्रयत्न मिल जाये, वही आन्तर्य है इस प्रकार ग् से उत्तर महाप्राण[1] ह् को पूर्वसवर्ण घ्, ड् से उत्तर ह् को ढ्, द् से उत्तर ह् को ध्, एवं ब् से उत्तर ह् को भ् ये महाप्राण अपने वर्ग के चतुर्थ अक्षर हुये हैं ।।

यहाँ से '*झयः*' की अनुवृत्ति ८।४।६२ तक तथा '*अन्यतरस्याम्*' की ८।४।६४ तक जायेगी ।।

शश्छोऽटि ।।८।४।६२।।

शः ६।१।। छः १।१।। अटि ७।१।। *अनु०*—झयोऽन्यतरस्याम्, संहितायाम् ।। *अर्थः*—झय उत्तरस्य शकारस्य अटि परतश्छकारादेशो भवति विकल्पेन ।। *उदा०*—वाक्छेते, वाक्शेते । अग्निचिच्छेते, अग्निचिच्शेते[2] । सोमसुच्छेते, सोमसुच्शेते[2] । श्वलिट् छेते, श्वलिट् शेते । त्रिष्टुप्छेते, त्रिष्टुप् शेते ।।

भाषार्थः—झय् प्रत्याहार से उत्तर [*शः*] शकार के स्थान में [*अटि*] अट् परे रहते [*छः*] छकार आदेश विकल्प से होता है ।। उदाहरणों में झय् से उत्तर श् है एवं श् से परे अट् प्रत्याहार है ही, अतः छत्व हो गया है ।।

हलो यमां यमि लोपः ।।८।४।६३।।

हलः ५।१।। यमाम् ६।३।। यमि ७।१।। लोपः १।१।। *अनु०*—अन्यतरस्याम्, संहितायाम् ।। *अर्थः*—हल उत्तरेषां यमां यमि परतो लोपो भवति विकल्पेन ।। *उदा०*—शय्या, शय्य्या । आदित्यः आदित्य्यः । आदित्य्यः, आदित्य्य्यः ।।

---

१. देखो वर्णो० '*एके अल्पप्राणा इतरे महाप्राणाः*' ६२ ।।

२. जब संहिता विवक्षित नहीं होगी तब 'अग्निचित् शेते, सोमसुत् शेते' होगा ।।

भाषार्थः—[*हलः*] हल् से उत्तर [*यमाम्*] यम् का [*यमि*] यम् परे रहते विकल्प से [*लोपः*] लोप होता है ॥ शय्या की सिद्धि सूत्र ३।३।९९ में देखें। यहाँ विशेष यह है कि जब *अनचि च* (८।४।४६) से पक्ष में य् को द्वित्व हुआ तो तीन यकार हो गये, सो उनमें से एक य् से उत्तर एक य् के परे रहते मध्य वाले य् का विकल्प से लोप हो गया, सो दो एवं तीन यकारों की पर्याय से श्रुति होती है ॥ अदितेरपत्यम् आदित्यः यहाँ *दित्यदित्या०* (४।१।८५) से ण्य प्रत्यय हुआ है। अब *यणो मयो द्वे भवत इति वक्तव्यम्* (वा० ८।४।४६) से य् को द्वित्व होकर आदित्य्यः बन गया, तो पक्ष में त् हल् से उत्तर य् परे रहते य् का लोप हो गया। इस प्रकार दो यकार एवं एक यकार वाले प्रयोग बन गये ॥ आदित्य्यः यहाँ अपत्य अर्थ में आदित्य शब्द पूर्ववत् बनकर पुनः *सास्य देवता* अर्थ में ४।१।८५ सूत्र से ही ण्य होकर 'आदित्य्यः' दो यकार वाला प्रयोग बना। पुनः उसमें पूर्ववत् वार्त्तिक से द्वित्व होकर आदित्य्य्यः तीन यकार हो गये,[1] तब पक्ष में एक य् का लोप करके आदित्य्यः आदित्य्य्यः प्रयोग बन गये ॥ यहाँ भी जब य् को पक्ष में द्विर्वचन न होगा तो उस पक्ष में भी एक य् का प्रकृत सूत्र से लोप होकर आदित्यः एक यकारवान् रूप ही बनेगा।

यहाँ से '*हलः लोपः*' की अनुवृत्ति ८।४।६४ तक जायेगी ॥

झरो झरि सवर्णे ॥८।४।६४॥

झरः ६।१॥ झरि ७।१॥ सवर्णे ७।१॥ *अनु०*—हलः लोपः, अन्यतरस्याम्, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—हल उत्तरस्य विकल्पेन झरो लोपो भवति सवर्णे झरि परतः ॥ *उदा०*—प्रत्तम् प्रत्त्तम्। अवत्तम् अवत्त्तम् मरुत्तम् मरुत्त्तम् ॥

भाषार्थः—हल् से उत्तर [*झरः*] झर् का विकल्प से लोप होता है [*सवर्णे*] सवर्ण [*झरि*] झर् परे रहते ॥ प्रत्तम्, अवत्तम् की सिद्धि सूत्र ७।४।४७ में देखें। प्रत्तम् अवत्तम् में पहले तीन तकार थे ही, द्वित्व (८।४।४६) करने पर चार हो गये, तो प्रकृत सूत्र से एक त् का लोप

---

१. शाकटायन आचार्य के मत में आदित्य्य में पुनः द्वित्व नहीं होता—*त्रिप्रभृतिषु शाकटायनस्य* (८।४।४९), अतः उसके मत में सूत्र से एक यकार का लोप होकर आदित्यः आदित्य्यः दो रूप ही बनते हैं ॥

कर देने पर 'प्रत्त्तम्' एवं एक त् का लोप कर देने के पश्चात् दूसरे का भी लोप कर देने पर प्रत्तम् दो प्रयोग बनें। मरुत् शब्द का *मरुत् शब्दस्योपसङ्ख्यानम्* (वा० १।४।५८) से उपसर्गों में उपसङ्ख्यान माना है, सो उपसर्ग सामर्थ्य से अजन्त न होने पर भी मरुत् से उत्तर पूर्ववत् दा के आ को त् होकर मरुत् द् त् त = मरुत् त् त् त रहा। अब यहाँ चार तकार हैं। पूर्ववत् द्वित्व करने पर पाँच हो गये, तो एक का लोप करने पर (मध्य वाले का) चार तकार, दो का लोप करने पर तीन तथा तीन का लोप करने पर दो शेष रहेंगे। इस प्रकार प्रथम उदाहरण में दो बार प्रकृत सूत्र की प्रवृत्ति होगी, तथा इस उदाहरण में तीन बार प्रवृत्ति होगी, क्योंकि तीनों बार सवर्णीय झर् परे एवं हल् से उत्तर झर् मिल जाता है॥ इसी प्रकार उत्थाता की सिद्धि में (सूत्र ८।४।६०) में भी प्रकृत सूत्र की प्रवृत्ति दिखाई जा चुकी है। सुगम होने से वह भी यहाँ समझाया जा सकता है॥

उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः ॥८।४।६५॥

उदात्तात् ५।१॥ अनुदात्तस्य ६।१॥ स्वरितः १।१॥ *अर्थः*—उदात्तादुत्तरस्यानुदात्तस्य स्वरितादेशो भवति॥ *उदा०*—गार्ग्यः, वात्स्यः, पचति, पठति॥

भाषार्थः—[*उदात्तात्*] उदात्त से उत्तर [*अनुदात्तस्य*] अनुदात्त को [*स्वरितः*] स्वरित आदेश होता है॥ गार्ग्यः, वात्स्यः में यञ् प्रत्यय (४।१।१०५) हुआ है, अतः *ञ्नित्यादि०* (६।१।१९१) से ये शब्द आद्युदात्त हैं सो *अनुदात्तं पद०* (६।१।१५२) लगकर प्रकृत सूत्र से उदात्त से उत्तर अनुदात्त 'य' को स्वरित हो गया। पचति पठति की सिद्धि परि० ३।१।४ में देखें॥

यहाँ से '*अनुदात्तस्य स्वरितः*' की अनुवृत्ति ८।४।६६ तक जायेगी॥

नोदात्तस्वरितोदयमगार्ग्यकाश्यपगालवानाम् ॥८।४।६६॥

न अ०॥ उदात्तस्वरितोदयम् १।१॥ अगार्ग्यकाश्यपगालवानाम् ६।३॥ *स०*—उदात्तश्च स्वरितश्च उदात्तस्वरितौ, इतरेतरद्वन्द्वः। उदात्तस्वरितौ उदयौ यस्मात् तत्'''बहुव्रीहिः। गार्ग्यश्च काश्यपश्च गालवश्च गार्ग्य'''लवाः, इतरेतरद्वन्द्वः। न गार्ग्य'''लवाः अगार्ग्यकाश्यपगालवास्ते-

षाम्……नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—अनुदात्तस्य स्वरितः ॥ *अर्थः*—उदात्तोदयस्य स्वरितोदयस्य चानुदात्तस्य स्वरितो न भवति अगार्ग्यकाश्यपगालवानां मतेन ॥ उदयशब्दः परशब्देन समानार्थकोऽत्र गृह्यते पूर्वाचार्यप्रसिद्ध्या ॥ पूर्वेण प्राप्तिः, प्रतिषिध्यते ॥ उदा०—उदात्तोदयः—गार्ग्यस्तत्र, वात्स्यस्तत्र । स्वरितोदयः—गार्ग्यः क्व, वात्स्यः क्व ॥

भाषार्थः—[*उदात्तस्वरितोदयम्*] उदात्त उदय = परे है जिससे एवं स्वरित उदय = परे है जिससे ऐसे अनुदात्त को स्वरित आदेश [*न*] नहीं होता [*अगार्ग्यकाश्यपगालवानाम्*] गार्ग्य, काश्यप, तथा गालव आचार्यों के मत को छोड़ कर, अर्थात् इन आचार्यों के मत में स्वरित होता ही है ॥ पूर्व सूत्र से स्वरित की प्राप्ति थी, प्रतिषेध कर दिया ॥ उदय शब्द प्रातिशाख्य ग्रन्थों में 'पर' का समानार्थक है, सो यहाँ भी पर अर्थ वाला उदय शब्द ही गृहीत है ॥

गार्ग्यस्तत्र यहाँ तत्र शब्द त्रल् (५।३।१०) प्रत्ययान्त है, अतः लित् स्वर (६।१।१८७) से आद्युदात्त है । इस प्रकार गार्ग्य का य जो पूर्ववत् अनुदात्त (६।१।१५२) था, उससे परे उदात्त तत्र का 'त' है, अतः पूर्व सूत्र से जो 'य' को स्वरित प्राप्त था, वह उदात्त परे होने से नहीं हुआ तो गार्ग्यस्तत्र रहा । इसी प्रकार वात्स्यस्तत्र में जानें । गार्ग्यः क्व यहाँ क्व शब्द स्वरित है, जिसकी सिद्धि परि० १।२।३१ में देखें । गार्ग्यः का य पूर्ववत् अनुदात्त है ही । इस प्रकार अनुदात्त य से परे स्वरित क्व है, सो य को पूर्व सूत्र से प्राप्त स्वरित नहीं हुआ, अनुदात्त ही रहा ॥

अ अ ॥८।४।६७॥

अ अ० ॥ अ अ० ॥ *अर्थः*—अकारो विवृतः संवृतो भवति ॥ एकोऽत्र विवृतोऽपरः संवृतस्तत्र विवृतस्य संवृतः क्रियते ॥ '*संवृतस्त्वकारः*' (वर्णो० ५८) इति वर्णोच्चारणशिक्षासूत्रेण अकारस्य संवृतप्रयत्नत्वमुक्तम् । *विवृतकरणाः स्वराः* (वर्णो० ५७) इत्यनेन तु दीर्घाऽकारस्य प्लुतस्य च विवृतप्रयत्नत्वम् उक्तम् तयोः ह्रस्वदीर्घयोः प्रयत्नभेदात् सवर्णसंज्ञा न प्राप्नोत्यतः '*अइउण्*' सूत्रे कार्यार्थं शास्त्रेऽकारो विवृतः प्रतिज्ञातस्तस्य तथाभूतस्यैव लोके प्रयोगो मा भूद् इति संवृतताप्रत्यापत्तिः क्रियते ॥ उदा०—वृक्षः, प्लक्षः ॥

भाषार्थः—[*अ*] विवृत अकार [*अ*] संवृत होता है ॥

संवृतस्त्वकारः सूत्र से ह्रस्व 'अ' का प्रयत्न संवृत (कण्ठ को संकोच करके बोलना) है, एवं दीर्घ तथा प्लुत का *विवृतकरणाः स्वराः* से विवृत प्रयत्न (कण्ठ को विकसित करके बोलना) है, अतः ह्रस्व अ से, दीर्घ प्लुत के प्रयत्न का भेद होने से इनकी परस्पर *तुल्यास्यप्रयत्नम्०* से सवर्णसंज्ञा तथा *अणुदित्०* (१।१।६८) से सवर्ण ग्रहण नहीं हो सकता था, सो शास्त्र में सवर्ण रूप से आ अ ३ के गृहीत न होने से कार्य कैसे होता? इसीलिये '*अइउण्*' प्रत्याहार सूत्र में पाणिनि मुनि ने अकार की विवृत प्रतिज्ञा की है, अर्थात् विवृत रूप से पढ़ा है, जिससे अकार से उसके सवर्णीय आ अ ३ का भी ग्रहण शास्त्र में कार्यार्थ हो सके। अब उस विवृत प्रतिज्ञात ह्रस्व 'अ' का विवृत रूप में ही लोक में भी प्रयोग न होने लगे इसलिये इस सूत्र से आचार्य ने अइउण् में पठित विवृत अकार की प्रयोगार्थ संवृत प्रत्यापत्ति कर दी, अर्थात् प्रयोग में वह संवृत ही बोला जाये, ऐसा कह दिया॥ उदाहरण वृक्षः प्लक्षः में संवृत रूप में अकार बोला जायेगा, विवृत रूप में नहीं, यही प्रयोजन है, शास्त्र में कार्यार्थ भले ही वह *अइउण्* में विवृत प्रतिज्ञात होने से विवृत रूप से गृहीत हो परन्तु लोक में संवृत ही उच्चरित होगा।

॥ इत्यष्टमाध्यायः समाप्तः ॥